श्रीजगन्मात्रे नमः

आचार चन्द्रिका

स्वामी दयानन्द विरचित

श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्द्वारा
प्रकाशित

काशी

वि० सम्वत् २०३५

चतुर्थावृत्ति] [मूल्य २) रुपया

श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्

प्रधान कार्यालय, लहुरावीर, वाराणसी २२१००१

यह अखिल भारतवर्षीय संस्था सनातनी आर्यजातिके मंगलार्थ और विशेषतया आर्यमहिलाओंकी सब प्रकारकी उन्नति और रक्षाके उद्देश्यसे स्थापित हुई है। महापरिषद्के अनेक कार्य-विभागोंमें निम्नलिखित कार्य मुख्य हैं।

(१) आर्यमहिला मासिक पत्रिका विभाग। (२) पुस्तक-प्रकाशन विभाग। (३) आर्यमहिलामहाविद्यालय विभाग (४) आर्यमहिलाओंकेलिये अन्नसत्र विभाग आदि।

आर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्की मुखपत्रिका 'आर्य-महिला' नियमानुसार महापरिषद्के सदस्योंको निःशुल्क दी जाती है। महापरिषद्का साधारण सदस्य होनेका चन्दा २५) रुपया वार्षिक है और आर्यमहिलाका चन्दा ५) वार्षिक है। उन्हें आर्यमहिला तो निःशुल्क मिलती ही है, अधिकन्तु महापरिषद्द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकें भी कम मूल्यमें मिलती हैं। इससे विदित होगा कि आर्यमहिला महापरिषद्के सदस्य बननेसे आर्यमहिलाओंकी रक्षा-शिक्षा तथा उन्नतिमें सहायक बनकर पुण्य लाभ तो होता ही है, साथ ही घरके पुस्तकालयों-की भी हर साल श्रीवृद्धि होती है। कैसे अमूल्य ग्रन्थ स्वतः ही उनको प्राप्त होते रहते हैं, सो वे स्वतः विचार कर देख सकते हैं। आर्यस्त्री और पुरुषमात्र सभी इस पुण्यकार्यमें सम्मिलित होकर धर्म और यश प्राप्त करें तथा अपने पड़ोसी और मित्रवर्गोंको भी सम्मिलित करनेका प्रयत्न करें।

व्यवस्थापक

श्रीजगन्मात्रे नमः

आचार-चन्द्रिका

स्वामी दयानन्द विरचित

श्री आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्द्वारा
प्रकाशित

काशी

वि० सम्वत् २०३५

चतुर्थावृत्ति] [मूल्य २) रुपया

महापरिषद्द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

(१) ईशावास्योपनिषद्
(२) केनोपनिषद्
(३) दुर्गा सप्तशती
(४) वेदान्त दर्शन
(५) कन्या-शिक्षा-सोपान
(६) महिला प्रश्नोत्तरी
(७) कठोपनिषद्
(८) परलोक तत्व
(९) सदाचार प्रश्नोत्तरी
(१०) भारतवर्षका इतिवृत्त
(११) परलोक प्रश्नोत्तरी
(१२) पूजा-प्रार्थना
(१३) तीर्थ और देवपूजन प्रश्नोत्तरी
(१४) सती-सदाचार
(१५) धर्म-विज्ञान
(१६) श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध
(१७) भारत धर्म-समन्वय
(१८) धर्म-तत्त्व
(१९) आचार-चन्द्रिका
(२०) धर्म-प्रवेशिका
(२१) मनुष्य-धर्म
(२२) आदर्श देवियाँ दो भागोंमें

श्रीआर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्
महामण्डल भवन, लहुरावीर,
वाराणसी—२२१००१

आचार चन्द्रिका

की

प्रस्तावना

—:※:—

मनुष्यत्वके विकासका मूलमन्त्र शिक्षा है। शिक्षाविहीन मनुष्य-जीवन मनुष्यपद वाच्य नहीं है। मनुष्योंमें मनुष्यत्वका जो बीज छिपा हुआ रहता है, सुशिक्षाके द्वारा वह अंकुरित होकर मनुष्यको क्रमशः मानवी जीवनके उन्नत पदपर प्रतिष्ठित कर देता है। इसीसे महर्षियोंने शिक्षाकी बड़ी महिमा गायी है ; क्योंकि शिक्षा ही प्रत्येक जातिको प्राणस्वरूप है।

जगत्में जितना जातियाँ हैं, जातीय लक्ष्यकी विभिन्नताके अनुसार उनकी मनःप्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इसीसे प्रत्येक जातिकी शिक्षाके आदर्श विभिन्न हैं। जिनका प्रवृत्ति वाणिज्य-की ओर है, उनका आदर्श वाणिज्यमूलक और जिनकी प्रवृत्ति शिल्प-नैपुण्यकी ओर है, उनका आदर्श शिल्पमूलक और जिनकी प्रवृत्ति राजनीतिको ओर है, उनका आदर्श राजनैतिक भाव-प्रधान रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? परन्तु उक्त शिक्षाओंका धर्महीन भौतिक विज्ञानोन्नतिके साथ दृढ़-सम्बन्ध होनेके कारण उनके द्वारा आत्माको उन्नति नहीं हो सकतो। आर्यजातिका प्राण 'धर्म' है; इस कारण उसकी प्रवृत्तिकी धारा सच्चिदानन्द महासागरको ओर स्वाभाविकरूपसे प्रवाहित होती है, अतः जिस शिक्षाके मूलमें 'धर्म' नहीं है

आर्योंके मतसे वह शिक्षा नहीं किन्तु कुशिक्षा है और वह आर्यजातिकेलिये कल्याणप्रद नही हो सकता। आर्यजातिकी व्यावहारिक शिक्षामें भी धर्मभाव भरा हुआ है।

कालके प्रभावसे आर्यजातिसे धर्मशिक्षाको शैली उठी जा रही है। धर्महीन पाश्चात्य शिक्षाके विषमय फलसे आर्य-जीवन प्राचीन आर्य-आदर्शके द्वारा अनुप्राणित नहीं हो रहा है। स्कूल कालेजोंमें कोमलमति बालक-बालिकायें जो शिक्षा पाती हैं, उनमें धर्मशिक्षाका पूर्ण अभाव होनेके कारण वे अपना जीवन आर्यादर्शके अनुसार नहीं बना सकतीं। वे प्रायः लक्ष्यभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और चरित्रभ्रष्ट होकर अपनेको तथा जातोय जीवनको यथार्थ उन्नतिके प्रशस्त पथसे बहुत दूर ले जा रहे हैं। सदाचार-प्रतिपालन, ईश्वर-भक्ति, गुरुजन-श्रद्धा पितृ-मातृभक्ति, सच्चरित्रता, ज्ञानार्जनस्पृहा, आस्तिकता, परार्थपरता, आध्यात्मिकता आदि आर्यजातिके स्वाभाविक गुण धर्महीन शिक्षाके प्रभावसे आर्यसन्तानोंके हृदयसे क्रमशः प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आर्यजातिको इस विपत्तिसे बचानेकेलिये अतिशीघ्र समस्त विद्यालयोंमें धर्मशिक्षा देनेकी व्यवस्था तथा धर्मशिक्षाके उपयोगी ग्रन्थ और उन्हें पढ़ानेयोग्य अध्यापक प्रस्तुत करना परमावश्यक हो गया है।

आर्यजातिका प्रथम धर्म सदाचार है। सदाचार-शिक्षाके हेतु कोमलमति वालक-बालिकाओंके पढ़नेयोग्य यह 'आचार-चन्द्रिका' नामक सदाचार-सम्बन्धी पुस्तकका यह चौथा संस्करण

प्रकाशित हो रहा है। ध्यान लगाकर पढ़नेवाले छात्र-छात्राओंको इस पुस्तकसे आर्योचित सदाचारोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

श्रीभारतधर्म महामण्डलके प्रतिष्ठाता पूज्यपाद श्रीजीके अनेक ज्ञानशास्त्र, योगशास्त्र और धर्मशिक्षाके उपयोगी नाना ग्रन्थ तथा उपनिषदों, पुराणों और दर्शन-शास्त्रोंके नाना भाष्यग्रन्थ बनाये हैं, जो प्रकाशित हुए हैं और क्रमशः होंगे। श्रीजीने न कहीं अपना नाम दिया है और न किसीका स्वत्वाधिकार अपने पास रखा है, परन्तु जगत्के कल्याण-बुद्धिसे उनका स्वत्वाधिकार अनेक धर्म-संस्थाओंआदिको दे दिया है। उसी नियमके अनुसार पूज्यपाद श्रीजीकी आज्ञासे इस पुस्तकका स्वत्वाधिकार महापरिषद्को दिया गया।

सनातनधर्मियोंके नेतृवृन्द और सनातनधर्मियोंद्वारा परिचालित स्कूल, कालेज, कन्याविद्यालयआदिके पदधारी महोदयगण छात्र और छात्राओंको इस ग्रन्थद्वारा शिक्षा देनेका व्यवस्था करेंगे तो कोमलमति बालक-बालिकाओंका विशेष उपकार होगा और देशका यथार्थ कल्याण होगा।

काशीधाम,
जन्माष्टमी
सं० २०३५ वि०

—प्रकाशक

आचार-चन्द्रिका
की
विषय-सूची

—०—

श्रीविश्वनाथो जयति

आचार-चन्द्रिका

—: ❋ :—

मंगलाचरण



यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वे सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥❋

आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः ।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥

क्रियामूलः साधकश्च क्रियापि फलमूलिका ।
फलमूलसुखं देवि ! सुखमानन्दमूलकम् ॥

आनन्दो ज्ञानमूलस्तु ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥

ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात्सर्वमूलकम् ।
ऐक्यं तद्धि महेशानि ! भावातीतं सुनिश्चितम् ॥



❋ इस मङ्गलाचरणका तात्पर्य इस ग्रन्थके उपसंहारमें दिया गया है ।

आचारका महत्त्व ।

—:०:—

वेद और शास्त्रोंमें कहीं आचारको प्रधान धर्म करके वर्णन किया है, कहीं प्रथम धर्म करके वर्णन किया है और कहीं परम धर्म कहकर वर्णन किया है। ऊपरके मंगलाचरणसे यही सिद्ध होता है और यह निश्चित होता है कि आचार-पालनद्वारा इस लोकके अभ्युदय और परलोकके अभ्युदयकी तो बात ही क्या है, मुक्तितक प्राप्त होती है। हिन्दू जातिके वर्णाश्रम-व्यवस्थारूपी धार्मिक समाज-विज्ञानके चार बड़े दुर्ग हैं। यथा आचार-विचार प्रथम है, वर्णश्रृङ्खला दूसरा है, आश्रम-व्यवस्था तीसरा है और नारीजातिमें सतीत्वरक्षा चौथा दुर्ग है। इस व्यवस्थाके अनुसार भी आचारका नाम पहले आता है। धर्मानुकूल शारीरिक क्रियाओंको आचार कहा गया है। प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतक जिस जिस प्रकारकी शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शरीरकी यथार्थ उन्नति और उसकेद्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, उन्हींका नाम सदाचार है। हमारे शास्त्रोंमें आचारको प्रथम धर्म कहा है। आचारके पालनसे आयु तथा श्रीकी वृद्धि होती है और मनुष्य सौ वर्षसे अधिक भी जीवित रह सकता है, ऐसा वेद और शास्त्रोंमें प्रमाणित है। स्थूल शरीरके साथ मनका सम्बन्ध है, इस कारण शरीर और

मन दोनों परस्पर सम्बन्धयुक्त होनेसे शरीरकेद्वारा मनकी उन्नति होती है, इसीलिये आर्यशास्त्रोंमें धर्मानुकूल शारीरिक और मानसिक उन्नतिकेलिये अनेक प्रकारके आचारोंका वर्णन किया गया है। इन आचारोंके पालनसे शरीर नीरोग रहता है, मन प्रफुल्ल और बलवान् होता है, बुद्धि और मस्तिष्ककी शक्तिकी वृद्धि होती है और भगवान्‌के प्रति आप ही आप भक्ति उत्पन्न होकर मनुष्यको नित्यानन्दका लाभ होता है। अतः क्रमशः कतिपय आचारोंका वर्णन किया जाता है।

शय्यात्याग।

हिन्दूशास्त्रोंमें ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्यात्यागकी बड़ी महिमा है। ढाई घड़ीका एक घण्टा होता है। रात्रिके अन्तकी चार घड़ियोंमेंसे पहली दो घड़ियोंको ब्राह्ममुहूर्त्त और पिछली दो घड़ियोंको रौद्रमुहूर्त्त कहते हैं। ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या त्याग देनी चाहिये। शास्त्रोंमें ब्राह्ममुहूर्त्तमें शय्या-त्यागकी जो बड़ी प्रशंसा है, सो व्यर्थ नहीं, यथार्थ है। हम इस पृथ्वीमें जो कुछ ज्योति और शक्ति पाते हैं, सो सब हमें अनन्त शक्तियोंके आधार भगवान् सूर्यसे मिलती है। ब्राह्ममुहूर्त्तमें श्रीसूर्य-भगवान् समस्त रात्रिके पश्चात् हमारे भारतकी ओर अपनी ज्योति और शक्तिका विस्तार करते हैं, अतः यदि हम उस

समयके पहले प्रतिदिन जाग उठें तो श्रीसूर्यभगवान्‌की शक्ति पाकर हमारी अल्पशक्ति बहुत बढ़ जायगी और उनकी ज्योतिके प्रभावसे हमारा शरीर आलस्यरहित, मन उपासनाके उपयोगी और बुद्धि तीव्र होगी। इस प्रकार हमारे शरीर, मन और बुद्धिमें रात्रिके प्रभावसे जो कुछ जड़ता आ गयी थी, सूर्यकी शक्ति और ज्योतिके प्रभावसे वह हटकर हममें नवीन स्फूर्तिका संचार होगा। ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठनेका आदेश करनेमें पूज्यपाद महर्षियोंका यही अभिप्राय है। प्रत्येक प्राणीकेलिये ब्राह्ममुहूर्त्तमें जाग उठना स्वाभाविक और ईश्वरकी आज्ञाके अनुकूल भी है। इस कारण पशु-पक्षी भी इसी समय जागकर मधुर कलरव करते हुए श्रीसूर्यभगवान्‌का स्वागत करते और उनसे नवजीवन तथा शक्ति प्राप्तकर मानो नये उमङ्गसे उनका गुण-गान करते हैं। प्रकृति माताकी जो आज्ञा पशुपक्षीभी नतशिर होकर स्वीकार करते हैं, हम यदि आलस्य और प्रमादवश उसका पालन न करें, तो हमसे बढ़कर नराधम कौन हो सकता है? अन्ततः ब्राह्ममुहुर्त्तमें हमें शय्या त्याग देना उचित है। प्राणके देवता श्रीसूर्यभगवान् हैं। ब्राह्ममुहुर्त्तमें उनके महाप्राणके साथ अपने प्राणोंको मिलाकर मन ही मन उनको प्रणाम करते हुए निम्न लिखित स्तोत्र पाठ करना चाहिये।

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी

भानुः शशी भूमिसूतो बुधश्च।

गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
लोकेश चैतन्यमयादिदेव
श्रीकान्त विष्णो भवदाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥
पुण्यश्लोको नलो राजा
पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः ।
पुण्यश्लोका च वैदेही
पुण्यश्लोको जनार्दनः ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु ये सब मेरेलिये प्रभात समयको सुखमय करें। हे जगन्नाथ, चैतन्यमय, आदिदेव, लक्ष्मीपते, विष्णो ! हम आपकी आज्ञानुसार प्रातःकाल उठकर आपकी प्रसन्नताकेलिये जीवनका कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। राजा नल, युधिष्ठर, सीता और भगवान् जनार्दन ये सब अनन्त पुण्यके आधार होनेसे पुण्यश्लोक कहाते हैं, अतः प्रातःकालमें इनके नामोंका उच्चारण करना चाहिये।

ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठनेसे और भी अनेक लाभ हैं। सारी रात चन्द्र और नक्षत्रोंके किरणोंके साथ जो अमृत बरसता रहता है, ऊषाकालमें उसीको लेकर वायु प्रवाहित होती है। उस अमृतभरे

वायुको 'वीरवायु' कहते हैं। वह वीरवायु शरीरमें लगनेसे शरीरके बलकी वृद्धि होती है, मुखकी कान्ति बढ़ती है, बुद्धि तीव्र होती है, मन प्रसन्न और शरीर नीरोग होता है।

स्थूल शरीरके रक्षक पितृगण हैं, जो पितृलोकमें वास करते हैं। प्रातःकालमें पितृगण प्रसन्न होते हैं और उनके बलकी वृद्धि होती है। वही बल वे संसारमें प्रचारित करते हैं. अतः यदि हम ब्राह्ममुहुर्त्तमें उठें तो पितृगणका वह बल प्राप्त कर सकेंगे, जिससे हमारा स्वास्थ्य सुरक्षित रहेगा और हमारी शक्ति बढ़ेगी।

हम रातभर कैसे सुखसे सो रहे थे। अति गम्भीर अन्धकारमें रहनेपरभी हमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं हुआ। प्रकृतिमाताने अपने कोमल अङ्कमें लेकर हमें सुखसे सुला दिया था! परम पिता परमात्माने भी अपने हजारों हाथोंसे सारा रात जागकर हमारी रक्षा की थी। प्रकृति माता और परम पिताने स्वयं जागकर हमें निद्राका आनन्द दिया, उन्होंने हमारे शरीरकी सारी क्लान्ति दूर कर दी, हमपर कोई विपत्ति आने नहीं दी। कितने ही निशाचर जीव-जन्तुओंसे हमें बचाया, इस कारण उनके निकट क्या हम उपकृत नहीं हैं? इस उपकार और करुणाकेलिये शय्यात्याग करनेपर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना क्या हमें उचित नहीं? अवश्य उचित है। हम यदि मनुष्य होना चाहते हैं, श्रेष्ठ होना चाहते हैं, सभ्य मनुष्योंमें अपनी गणना कर लेना चाहते हैं, तो इस कृतज्ञताको भूलना उचित नहीं होगा।

शय्यासे उठकर श्रीभगवान् और जननी जन्मभूमिका स्मरण कर हाथ जोड़कर उनकी कृपाकेलिये उन्हें प्रणाम करना चाहिए। ऐसा करनेसे हमारा सारा दिन सुखसे वीतेगा और संसारमें माँका दुलार और पिताका प्यार हमें प्राप्त होगा और आनन्दके साथ जीवन यापनकरनेमें हम समर्थ होंगे।

प्रातःकृत्य और शौचादि

शय्यात्याग और भगवत्स्मरण करनेके पश्चात् मलमूत्र विसर्जन करना चाहिये। 'जब मलमूत्रका वेग होगा, तभी उनका विसर्जन करेंगे, प्रातःकालमें ही क्यों किया जाय' इस प्रकारकी शङ्का करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रातःकालमें ही मलमूत्र त्याग करनेसे शरीर अधिक नीरोग रह सकता है। जीव-शरीरका यह स्वभाव है, कि भीतर चेष्टा होते ही शारीरिक रसका शोषण हो जाता है, अतः यदि प्रातःकालमें पहिले शौच न कर कोई वैठा रहे तो मलका दूषित रस रक्तमें मिल जायगा, जिससे मल कठिन होकर अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ उत्पन्न होंगी, मलका दूषित रस रक्तमें मिलनेसे रक्तविकार होंगे, रक्त दूषित होनेसे फोड़ा, खुजली आदि रोग होंगे और शरीर तथा मुख दुर्गन्धयुक्त वना रहेगा। इसलिये शय्यात्याग करते ही मलमूत्र-विर्सजन करना आवश्यक है।

मनुष्य अभ्यासका दास होता है। थोड़ी चेष्टा करनेसे ही इस प्रकारका अभ्यास हो जायगा। पहिलेसे अभ्यास न हो, तो प्रारम्भमें कुछ दिन योंही यथासमय शौचगृहमें जा वैठना चाहिए। क्रमशः अभ्यास हो जायगा। जो व्यक्ति मलमूत्रके वेगको रोकते हैं, उनको नाना प्रकारके रोग होते हैं। अतः कभी मलमूत्रके वेगको रोकना नहीं चाहिये। मलमूत्र-त्यागका नियम यह है, कि प्रथम मूत्रत्याग कर फिर मल त्याग करे। मलमूत्र त्यागके सम्बन्धमें हिन्दुशास्त्रोंमें कुछ नियम हैं, यथा :—(१) शौचाचारके समय बोलना, थू-थू करना अथवा हाँपना न चाहिये। (२) अग्नि, जल, सूर्य, वायु और पूजनीय लोगोंके आगे मलमूत्र त्याग करना निषिद्ध है। (३) जहाँ मलमूत्र त्याग करे, वहाँ अधिक समयतक न ठहरे। इन नियमोंमें विज्ञान भरा हुआ है। शरीरके ऊपरी भागमें जो स्नायु है, उनसे यदि क्रिया उत्पन्न हो तो शरीरके नीचेके भागके स्नायु और पेशीके कार्य भली-भाँति हो नहीं सकेंगे। मलमूत्र-त्यागके समय यदि नीचेके स्नायु और पेशी अच्छा कार्य न कर सकें, तो कोष्ठ किसी प्रकारसे विशुद्ध न हो सकेगा। कोठा शुद्ध न रहनेसे सब तरहके रोग शरीरपर आक्रमण कर सकेंगे। मलमूत्र त्यागके समय बोलने, थू-थू करने अथवा हाँपनेसे शरीरके उपरि भागके स्नायु कार्य करने लगेंगे और निम्न भागकी पेशियाँ, स्नायुआदि कार्यक्षम नहीं रहेंगे। कोठा शुद्ध न होनेसे अनेक प्रकारके रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, जल, सूर्यआदिके

आगे शौच करनेसे आप ही आप शरीरके ऊपरके भागके स्नायु कार्य करने लगेंगें, क्योंकि अत्युज्ज्वल, चञ्चल अथवा सबल वस्तुके दर्शन-स्पर्शनसे स्वभावतः स्नायु उद्दीपित होते हैं, इससे कोष्ठ-शुद्धिमें बाधा होकर रोग होना स्वाभाविक है। अग्नि, सूर्य, जल-आदि प्रत्यक्ष देवता हैं। उनके सामने मल-मूत्र त्याग जैसे घृणा-जनक कार्य करनेसे तेज और शक्तिकी अवश्य ही हानि होगी। इस विचारसे शास्त्रोंमें उक्त आज्ञाओंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-शास्त्रोंमें निवासस्थानसे कुछ दूर नगर या ग्रामके बाहर जाकर एकान्त स्थानमें सबेरे शौच करनेकी आज्ञा है। ग्राम वा नगरके बाहर मल-मूत्रादिका त्याग करनेसे देशमें रोगोत्पत्ति होनेकी सम्भावना कम रहती है। आजकल नगरोंमें इस नियमका पालन होना कठिन है, ग्रामोंमें हो सकता है। हम भी देखते भी हैं, कि शौचाचारके कारण नगर-निवासियोंकी अपेक्षा ग्रामवासियोंका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। इस प्रक्रियासे प्रातःकालकी 'वीर-वायु' का अनायास सेवन हो जाता है। हिन्दू शास्त्रोंमें ओससे भींगी हुई घासपरसे खाली पैर चलनेका बड़ा माहात्म्य बताया गया है, इससे स्वास्थ्य अच्छा रहकर चक्षुरोग दूर होते हैं और नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। बाल्यावस्थामें ही चश्मा चढ़ानेकी आवश्यकता नहीं होती। केवल मलत्यागकी विधिमें ही इतने काम अनायास बन जाते हैं।

शौचक्रियामें मिट्टी और निर्मल जलका व्यवहार करना चाहिये। मिट्टीसे जैसे हाथ साफ होते हैं, वैसे साबुनआदि द्रव्योंसे

नहीं होते, क्योंकि पृथ्वी गन्धवती है। हाथोंकी दुगन्धि पृथ्वीकी मिट्टीसे जैसी दूर होगी वैसी और किसी वस्तुसे हो नहीं सकती। पित्तके संयोगसे विष्ठामें तेलकी तरह एक प्रकारका लसीला पदार्थ रहता है, वह केवल मिट्टीसे ही छूटता है। अतः शौच कर लेनेपर हाथ मिट्टीसे ही धोने चाहिये। तीन बार मिट्टी लगाकर फिर शुद्ध जलसे हाथ-पैर धो डालना चाहिये।

मूत्रत्यागके अनन्तर भी पैर धोना उचित है। इससे शरीर स्निग्ध और स्वस्थ रहता है। लघुशंका कर लेनेपर मूत्र यन्त्रको ठण्ढे जलसे धो देना चाहिये क्योंकि मूत्र अत्यन्त पित्तप्रधान होता है और उसमें कितनी ही विषैली वस्तुयें रहती है। इन्द्रियमें अथवा धोतीमें मूत्र लगा रहनेसे अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं, अतः इन्द्रियको धोना आवश्यक है। प्रायः देखा जाता है, कि स्कूलोंमें एक ही स्थानमें अनेक लड़के लघुशंका करते हैं। यह ठीक नहीं, क्योंकि मूत्रत्यागके साथ दूसरोंके रोग उसी इन्द्रियकेद्वारा संक्रामित हो जाते हैं। अतः एक व्यक्ति जहाँ मूत्रत्याग करे, वहीं दूसरेको नहीं करना चाहिये। यदि मूत्रत्यागका एक ही स्थान बना हो तो वहाँ पहिले जल छोड़कर तब लघुशंका करे। उपदंशादि विकार पैतृक भी होते हैं। जिस बालकके माता-पिताको यह रोग हो गया हो, उसने जहाँ लघुशंका की है, वहीं यदि दूसरा बालक लघुशंका करे तो पहिलेका रोग दूसरेमें संक्रामित हो जायगा। यदि हरएक बालक

लघुशंकाके समय जल लेनेका अभ्यास करे; तो आप ही इस रोग-भयसे दूर रहेगा।

मिट्टीसे हाथ धोकर मुख-आँखें धोनी चाहिए। मुँहमें ठण्ढे पानीका कुल्ला भरकर शुद्ध जलसे आँख धोई जाय तो नेत्रोंकी शिरायें अधिक सतेज होंगी और आँखें शीघ्र नहीं बिगड़ेंगी। मुँह धोकर दाँत रगड़ने चाहिये। दाँतवनकलिये शास्त्रोंमें खैर, कदम्ब, आम, नीम, बेल, ऊमर, बकुल आदिकी टहनी प्रशस्त कही गयी है। बकुल (मौलसरी) की दतौनका प्रभाव तो—

"दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः।"

दाँत वज्रके समान दृढ़ बन जाते हैं, ऐसा लिखा है। नीम और खैरकी दतौन भी अच्छी होती है। बटआदिकी दतौनसे जिनमें सफेद रस निकलता है, दन्त दृढ़ होते हैं। खैर, बकुल आदि वृक्षोंकी छालका दन्तरञ्जन बनाकर उसके दाँत मलनेसे दन्तमुखरोग हट जाते हैं। घास, कोयला, खपड़ा, पत्थर, बालू, लोहा और चमड़ा, दन्तधावनकेलिये निषिद्ध है। इन वस्तुओंसे दाँत धोनेसे दाँतोंमें पोड़ा होती है, वे बिगड़ जाते और असमयमें उखड़ जाते हैं। पूर्व अथवा उत्तराभिमुख होकर मुँह धोना चाहिये। इसका कारण आगे चलकर बताया जायगा। हमारे शास्त्रोंमें पूर्व अथवा उत्तराभिमुख होकर सब कर्म करनेकी और उत्तर शिर होकर न सोनेकी विधि है। इसके मूलमें वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है। अनामिका और अँगूठेके बिना और किसी अँगुलीसे दाँत रगड़ना अनुचित है। तर्जनी

और मध्यमा अति बलवती होती हैं, उनसे दाँत मलनेसे दाँतोपर रगड़ अधिक पड़ेगी और उनकी जड़ोंमें आघात पहुँचेगा। अतः दाँत धीरे-धीरे सावधानीसे शास्त्रोक्त वस्तुओंद्वारा स्वच्छ रखने चाहिये।

दन्त-धावत और मुख,प्रक्षालनके पश्चात् स्नान करना चाहिये। स्नानके विषयमें निम्नलिखित अवश्य पालन करना चाहिए; यथा—

> न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
> न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये॥

अर्थात् भोजनके बाद ही स्नान नहीं करना चाहिये। शरीरके अस्वस्थ रहनेपर स्नान नहीं करना चाहिये। अधिक रात गये स्नान नहीं करना चाहिये। बहुत कपड़े पहने हुए नहीं नहाना चाहिये और बिना जाने हुए जलाशयमें भी नहीं स्नान करना चाहिये। भोजनके पश्चात्, शरीरमें पीड़ा हो तो रात्रिके दूसरे और तीसरे प्रहरमें तथा अधिक कपड़े पहिन कर स्नान करना उचित नहीं है। छोटे वा अपरिचित जलाशयमें स्नान न करे। नदी हो तो उसमें नहाना बहुत उत्तम हैं; परन्तु वर्षाकालकी बाढ़में नदीमें नहानेसे बचाना चाहिये। प्रवाहके जलमें नहाना हो तो, जिस ओरसे प्रवाह आ रहा हो, उस ओर मुँह करके और घरमें नहाना हो तो सूर्याभिमुख होकर नहावे। स्नान करते समय बकवाद करना अथवा पहिरे हुए

कपड़ोंसे देह मलना अच्छा नहीं। शरीर अच्छा हो तो ठढे जलसे स्नान करना उत्तम है। शास्त्रोंमें समुद्र स्नानकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। कहा है कि, समुद्र स्नानसे जन्मजन्मान्तरके पातक नष्ट होते हैं। कुछ भी हो स्नान बड़ी ही पवित्र वस्तु है। नवछिद्रोंसे युक्त शरीर वास्तवमें बड़ा ही अपवित्र है। दिन-रात उन छिद्रों-मेंसे थोड़ा बहुत मल बहिर्गत होता ही रहता है। स्नानकेद्वारा अशुचि शरीर शुचि होकर भगवान्‌की पूजाके योग्य बनता है, इसीसे स्नान पवित्र कार्योंमें समझा गया है। शास्त्रोंमें लिखा है, कि स्नान पवित्रताजनक, दीर्घ आयुकारक, श्रमनाशक, मलापहारी, केशवर्धक और परम तेजस्कर है। स्नानमें भी प्रातःस्नानकी बड़ी महिमा है। प्रातःस्नानका वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं :—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये,
रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं,
दुःस्वप्नघातश्च तपस्य मेधा ॥

प्रातःस्नान करनेसे रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्नानाश, तप और मेधा इन दश गुणोंका लाभ होता है, अतः बुद्धिमान् व्यक्तियोंको सवेरे ही नहा लेना चाहिये। शरीर अस्वस्थ हो तो वस्त्रान्तर कर गीले कपड़ेसे देह पोंछ डालनी चाहिये। ऐसा करनेसे शरीर स्वच्छ रहकर हलका और उत्साह-युक्त होता है।

हम आर्य हैं, हमारा शरीर भगवान्‌की आराधनाकेलिये निर्माण किया गया है। अतः स्नान करते समय केवल शरीर शुद्धिका ही विचार न कर यह भी भावना करनी चाहिये कि, हमारा शरीर स्नानकेद्वारा पवित्र होनेपर भगवान्‌की पूजाकेलिये अधिक उपयुक्त हो सकेगा और हमारे पवित्र शरीरके द्वारा की हुई पूजासे भगवान् विशेष सन्तुष्ट होंगे। स्नान कर लेनेपर देह पोंछनी चाहिये. पहिले ऊपरी भाग पोंछकर पीछे नीचेके अङ्ग पोंछने चाहिये क्योंकि देहके निम्न अङ्गोंकी अपेक्षा ऊपरके अङ्ग अधिक पवित्र होते हैं। देह पोंछनेपर चन्दन भस्म, तिलक आदि धारण करना चाहिये, क्योंकि जो जिस देवताके भक्त होते हैं, वे अपने उपास्यके चिन्ह धारण करे तो उनके हृदयमें भक्ति और पूजाके भाव स्वतः उन्मेषित होने लगते हैं। इस प्रकार शुद्ध शरीर और पवित्र अन्तःकरण कर पिता, माता, गुरुजन तथा घरमें जो कुलदेवता इष्टदेवता हों, उनको भक्तिभावसे प्रणाम करना उचित है।

पूजनीयोंकी पूजा।

गुरुजनोंकी पूजा किये बिना मनुष्य अपनी किसी प्रकारकी उन्नति नहीं कर सकता। अतः शौचस्नानादिके पश्चात् अथवा प्रातःकालमें ही पिता, माता, वयोवृद्ध अन्यान्य गुरुजन

अध्यापक, ज्येष्ठ भ्राता-भगिनी आदिके प्रति भक्ति प्रकट करनेके-लिये उन्हें प्रणाम करना उचित है। हमारे शास्त्रोंमें श्रेष्ठोंको प्रणाम करनेके चार महत्फलोंका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥"

गुरुजनको प्रणाम और वृद्धोंकी सेवा करनेवालोंका यश, विद्या, आयु और बल बढ़ता है। ऐसा क्यों होता है, इसका कारण है। सभी जानते हैं, कि किसी गरम वस्तुके निकट होने अथवा स्पर्श करनेसे संसर्गके कारण शीतल वस्तु भी गरम हो जाती है। इसी तरह उस व्यक्तिसे अपने मन प्राण मिलाये जाँय, जिसमें हमारी अपेक्षा शक्ति, आयु, विद्या और यश अधिक है, तो उसके संस्पर्शसे हमारी दुर्बल शक्ति परि-पुष्ट होगी और हम दीर्घायु, विद्वान्, बलवान् और यशस्वी होंगे। प्रणामकेद्वारा यह कार्य होता है; अर्थात् अधिक आयु, विद्या, यश और बलशाली गुरुजनको प्रणामकेद्वारा मन-प्राण मिलाकर हम उनसे उक्त चार वस्तुयें प्राप्त कर सकते हैं। अतः गुरुजनको प्रणाम करना अत्यावश्यक है। प्रणामका नियम यह है, कि गुरुजनको देखते ही खड़े हो जाना उचित है उनके आगे बैठे रहना ठीक नहीं क्योंकि गुरुजनमें अधिक शक्ति होती है। उनके आगे बैठे रहनेसे हमारी अल्प-शक्ति उनकी गुरुशक्तिकेद्वारा आकृष्ट होता है। इससे आयु

क्षीण होना सम्भव है। अतः गुरुजनको देखते ही प्रथम खड़े होना और फिर दाहिने हाथपर बाँया हाथ आड़ा रखकर बायें हाथसे उनका वाम चरण और दहिने हाथसे दक्षिण चरण पकड़कर दोनों हाथोंके बीचमें शिर रखकर उनको प्रणाम करना चाहिये। इस प्रकार गुरुजनको प्रणाम करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। हमारे शास्त्रोंमें माता-पिताको परमगुरु कहा है, इस कारण स्नान करनेपर प्रथम माता पिताको प्रणाम करना चाहिये। माता-पिताको कभी साधारण मनुष्य समझना न चाहिए। जिस प्रकार भगवान् समस्त जगत्की सृष्टि करते और जगन्माता भवानी अशेष ब्रह्माण्डका प्रसव करती हैं, उसी प्रकार पिताने हमें उत्पन्न कर इस सुन्दर संसारका मुख दिखाया है और माताने कितने कष्टोंको सहते दस मासतक अपने गर्भमें रखकर हमें प्रसव किया एवं अनेक क्लेश सहकर बड़े यत्नसे स्तन्यपान कराकर छोटेसे बड़ा किया है। माता पिताके परमात्मा और जगन्माताका कार्य करनेसे माताको भवानीका अंश और पिताको भगवान्का अंश समझना उचित है। इसी भावसे माताको देखकर जैसे हम भगवती और भगवान्को प्रणाम करते हैं, वैसे माता-पिताको प्रातः-सायं भक्तिपूर्वक अनन्य होकर प्रणाम करना चाहिये। अपनी माताकी तरह संसारकी अन्यान्य मातायें भी सन्तानका प्रसव और पालन करतीं हैं। वे भी जगदम्बा भवानीकी

अंशभूत हैं, अतः स्त्रीको देखते ही उसे माता जगदम्बा समझकर मन ही मन प्रणाम करना चाहिये। ऐसा करनेसे सभी माताएँ हमें स्नेह करेंगी। क्या हम माता-पिताका ऋण चुका सकते हैं? जब हम बचपनमें अत्यन्त असहाय अवस्थामें थे, अपने हाथों खा नहीं सकते थे, बिछौने-पर ही मल-मूत्र त्याग कर देते थे, तब कितने दिनोंतक सारी रात जागकर माता-पिताने हमारी कैसी रक्षा की है? उन्हींकी कृपासे आज हम सारा सृष्टि-सौन्दर्य देख रहे हैं। उन्होंने अपने प्राण, हृदय और रक्तसे हमारी आत्माके मन-प्राणको पुष्ट किये हैं। जिन्होंने हमारे प्राणोंकेलिये अपने प्राण निछावर कर दिये, हमें भी प्राणपणसे उनकी सेवा करनी चाहिये और मनोभावसे उन्हें श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। यदि ऐसा न करें, तो हम जगत्‌में दुःखी अल्पायु, रुग्न और कुलके कलङ्क होंगे। इस पापसे पश्चात् मृत्युके हमें नरककी यातनायें भोगनी होंगी। अतः पिता-माताकी भक्ति और उन्हें प्रणाम करना हमारा कर्त्तव्य है। पिताकी पूजासे भगवान् और माताकी पूजासे जगदम्बा सन्तुष्ट होती हैं। इनकी पूजा किये विना कोई धर्मकार्य सुसम्पन्न नहीं होता, इसलिये सबसे पहिले पिता-माताकी पूजा करनी चाहिये।

माता-पिताके पश्चात् अन्यान्य गुरुजन और अध्यापक-आचार्यको प्रणाम करना उचित है। हमारे शास्त्रोंने आचार्य-की महिमा विशेषरूपसे वर्णन की है, क्योंकि पिता-माता

जिस प्रकार हमारा स्थूल शरीर परिपुष्ट करते हैं, उसी प्रकार आचार्यदेव विद्यादान कर हमारे मन, बुद्धि और आत्माको उन्नत करते हैं। ऐसा विचार कभी न करना चाहिये कि, जब हम रुपये देकर पढ़ते हैं, तब आचार्यके प्रति क्योंकर भक्ति करें? ऐसा सोचना पाप है, क्योंकि एक अक्षरकी भी जिसने शिक्षा दी हो, लाखों रुपये देनेपर भी उसके ऋणसे हम उऋण नहीं हो सकते। आत्माकी उन्नति, रुपये देकर मोल खरीद लेनेकी वस्तु नहीं। महर्षि मनुने कहा है, आचार्यदेवकी सेवा करनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, जिस प्रकार कुदारीसे मिट्टी खोद-खोदकर पानी मिलता है, उसी प्रकार आचार्य-देवकी सेवा करते-करते विद्याकी प्राप्ति होती है। पिता-माता अथवा आचार्यके साथ तूकारेसे बातचीत नहीं करनी चाहिये। जहाँ उनकी निन्दा होती हो, वहाँसे उठ आना चाहिये अथवा कानोंमें अँगुली देनी चाहिये। कभी उनकी निन्दा सुननी न चाहिये। मनुने कहा है कि, आचार्यकी निन्दा सुननेसे शिष्य मरनेपर गदहा होता है, वह स्वयं निन्दा करे, तो कुत्ता बनता है और उनका यश होता हुआ देख, ईर्षा करे तो कीट-योनिको प्राप्त होता है। आचार्यदेवको भी देखते ही उठना और प्रणाम करना आर्य-सदाचारोंके अन्तर्गत है।

ज्येष्ठ भ्राताके प्रति पिताके समान ही भक्ति करनी चाहिये और उक्त प्रकारसे उन्हें भी प्रणाम करना चाहिये। वे जो कुछ आज्ञा करें, उसका पालन तुरन्त कर देना चाहिये। अहा!

रामायणमें भरत और लक्ष्मणकी, उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रके प्रति भक्तिकी कैसी अच्छी कथा है! भरतकी माता केकयीने कितने छलसे भरतको राज्य दिलाया था, परन्तु ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्रके रहते हुए भरतने वह ग्रहण नहीं किया। रामके बनमें चले जानेपर उनकी पादुकाओंको सिंहासनपर रखकर स्वयं नीचे बैठ, अपनेको श्रीरामचरणका क्रीतदास मानकर भरतने राज्य-कार्य किया और वनवाससे लौट आनेपर उन्होंने श्रीरामचन्द्रको सिंहासनपर अधिष्ठित कर स्वयं उनकी सेवा करना स्वीकार किया। देखिये, लक्ष्मणकी भ्रातृ-भक्ति कैसी थी! अयोध्याके सुखभोगोंको त्यागकर ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रकी सेवाके निमित्त उन्होंने उनके साथ चौदह वर्ष बनवासमें काटे और पहरेदारकी तरह दिनरात जागकर उनकी रक्षा और सेवा की। रामके दुःख दूर करनेकेलिये लङ्कामें कितने कष्ट सहे और कितने युद्ध किये। छातीपर शक्ति-शल्य धारण कर भ्राताकी छातीमें लगे हुए विरह-शल्यको उन्होंने हटा दिया। अन्तमें अयोध्या आकर बहुत वर्षोंतक भाईकी सेवाकर उन्हींकी प्रतिज्ञा और धर्मरक्षाकेलिये देशत्यागी हो सरयूमें कूद पड़े। उनकी भ्रातृ-भक्तिके पुण्यसे ही सरयूमें कूदते समय स्वयं देवगण वहाँ आये और वे उन्हें सशरीर अमरधाममें ले गये। हम भी यदि ज्येष्ठ भ्राताकी सेवा करें, तो देवताओंकी सहायतासे अमरधाममें विहार कर सकेंगे। दूसरा उदाहरण पाण्डवोंका है। अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेवकी युधिष्ठिरके

प्रति कितनी भक्ति थी! बहुत कुछ मतभेद होनेपर भी युधिष्ठिरकी आज्ञा और इच्छाको सोचकर उन्होंने कभी ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं किया। द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय उसके करुण क्रन्दनको सुनकर अर्जुन और भीमके हृदय विदीर्ण हो रहे थे, तौभी ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिरको प्रतिज्ञा पाशमें बँधे जानकर उन्होंने हृदयकी व्यथा जहाँकी तहाँ दबा दी! कितने ही वार कपट-द्यूतमें हारकर केवल युधिष्ठिरके-लिये उन्होंने बनवास और अज्ञातवासके दुःख सहन किये। ऐसी प्रगाढ़ बन्धुप्रीतिका कैसा शुभ परिणाम हुआ! भ्रातृ-भक्तिके पुण्यसे ही यक्षके क्रोधसे अचेतन दशाको प्राप्त हुए चारों भाइयोंने पुनर्जीवन पाया। अन्तमें महाप्रस्थानके समय पूर्वकर्मानुसार जब चारो भाई नरक गये थे, तब ज्येष्ठ भ्राताकी भक्तिके पुण्यसे नरक-यन्त्रणासे मुक्त होकर युधिष्ठिरके साथ उन्हें अनन्त स्वर्ग-सुखका लाभ हुआ था। हम भी यदि ज्येष्ठ भ्राताके प्रति भक्ति करें, उनको हृदयसे चाहें और उनपर श्रद्धा करना सीखें तो वे भी राम और युधिष्ठिरके समान हमारा कल्याण करेंगे तथा उनकी कृपासे हम सब प्रकारकी विपत्तियोंसे मुक्त होकर अन्तमें अनन्त स्वर्गके अनन्त आनन्दको प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे।

ज्येष्ठ भ्राताके समान ज्येष्ठ भगिनी और ज्येष्ठ भ्रातृवधु भी हमारेलिये पूजनीया हैं। शास्त्रोंमें इनके प्रति माताके समान भक्ति करनेको कहा है। बड़ी बहिन माताके समान

ही छोटे भाईका लालन-पालन बड़े स्नेहसे करती है। हम इतने बड़े हुए हैं, इसमें हमारी बड़ी बहिनके स्नेह और जी भरकर की हुई कल्याण कामनाका सम्बन्ध है। अनेक कामोंमें व्यस्त होनेसे सब समय माँ हमारी देखभाल नहीं कर सकती थी। उस समय हमारी बड़ी बहिनने ही हमें गोदमें उठा, पीठपर चढ़ाकर सम्हाला और मनुष्य बनाया, यथासमयसे खिलाया-पिलाया और उसे प्राप्त हुई खानेकी वस्तु स्वयं न खाकर बड़े प्रेमसे उसने हमें खिला दी। इन सब उपकारों और सेवाके बदले हम उसको दयाकी मूर्ति समझें तथा उनके प्रति श्रद्धा करें, यही हमारा कर्त्तव्य है। आर्य-शास्त्रोंमें 'दयाया भगिनी मूर्तिः' कहकर भगिनीपर भक्ति करनेकी आज्ञा है। भगिनीकी तरह ज्येष्ठ भ्रातृबधू भी हमें प्यार करती है। ज्येष्ठ भ्राता जब पितृतुल्य हैं, तब उनकी स्त्री भी मातृतुल्य हुई। उनके प्रति माताके समान भक्ति करना उचित ही है। ज्येष्ठ भ्राता रामकी पत्नी मातृतुल्या सीताकेलिये अनुज लक्ष्मणने सब प्रकारके कष्ट सहे थे। रावणपुरीसे सीताका उद्धार करनेमें प्रधान सहायक लक्ष्मण ही थे। इसी तरह हमें भी ज्येष्ठ भ्रातृबधूका आदर करना चाहिये।

अपने घरके वयोवृद्ध स्त्री-पुरुषोंके प्रति उक्त प्रकारसे भक्ति-प्रदर्शन और प्रणामादि करनेके अतिरिक्त उनकी सम्मान-रक्षाका निरन्तर ध्यान रखना चाहिये। मनुका वचन पहिले

लिखा जा चुका है कि, वृद्धोंकी सेवा और सम्मान करनेसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। वृद्धोंको देखकर उनका कभी उपहास न करे और न उनके आगे चपलता दिखावे। स्वर्गलोकस्थित पितृगणका विशेष अंश वृद्धोंमें होनेके कारण उनका उपहास पितृगणका उपहास होता है। जिससे स्वास्थ्य, शक्ति और आयुका नाश हो जाता है। जापानियोंका कुछ वर्ष पहिले संसारमें कोई आदर नहीं था, किन्तु वृद्धपूजाके फलसे इस समय जापान श्रेष्ठ राज्योंमें गिना जाता है। यदि हम भी श्रेष्ठोंकी पूजा करना सीखें तो हम भी श्रेष्ठ बनेंगे। मनुने कहा है कि, अपने या अपनेसे श्रेष्ठ वर्णके वृद्ध व्यक्तिको सामनेसे आते देख प्रणाम करना चाहिये। उन्हें बैठनेकेलिये आसन देना चाहिये। उनके साथ एक आसनपर न बैठना चाहिये और जब वे चलने लगें तो उनको कुछ दूरतक पहुँचा देना चाहिये। रास्तेमें यदि भेंट हो, तो उनकेलिये रास्ता छोड़ देना चाहिये। उनको व्यथा (रोग) हो तो प्राणपणसे सेवा करनी चाहिये। यही वृद्धपूजा है। इससे आयु, स्वास्थ्य, बल और पितृगणकी कृपा प्राप्त होती है।

सर्व शक्तिमान् भगवान् जगत्में सर्वत्र व्याप्त हैं। उनकी शक्ति जीवमात्रमें विद्यमान है। मनुष्य जितना उन्नत होता है, उनकी उतनी ही अधिक शक्ति उसकेद्वारा प्रकाशित होती है। अतः यदि किसी मनुष्यमें किसी प्रकारकी विशेष शक्ति देख पड़े, तो हमें समझना चाहिये कि, यह भगवान्‌की शक्ति

है और भगवान् इस व्यक्तिके अन्तःस्थ हो, अपनेको विशेष भावसे प्रकट कर रहे हैं। यह जब भगवान्‌की शक्ति है और हम भगवान्‌की भक्ति करते हैं, तब भगवान्‌के विभूतिस्वरूप इस विशेष शक्तिशाली व्यक्तिकी भी हमें भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिये। उनकी पूजा करनेसे भगवान्‌की ही पूजा होती है. अतः देशके नेता हो, धर्मके नेता हों, सच्चरित्र साधु महात्मा हों अथवा अन्य किसी प्रकारके शक्तिशाली पुरुष हों, जिनमें कुछ विशिष्ट शक्ति देख पड़े, उनको श्रेष्ठ समझकर उनका सम्मान करना चाहिये। कभी उनकी उपेक्षा, निन्दा या हँसी न करनी चाहिये। ऐसा करनेसे ही पूज्योंकी पूजा होती है। इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, अपनी कृपा-कणका वितरण करते हैं और हमारा सब प्रकारसे मंगल तथा उन्नतिसाधन करते हैं।

श्रीभगवान्‌की पूजा।

यह ऊपर कहा जा चुका है, कि किसी बड़ी शक्तिके साथ यदि मन-प्राणसे छोटी शक्तिका सम्बन्ध हो सके, तो वह क्षुद्र शक्ति भी बलवती होती है। इसी विचारानुसार वृद्ध और गुरुजनको प्रणाम और उनकी सेवा करनेसे आयु, विद्या, यश और बल प्राप्त होता है। यदि यह बात ठीक है, कि

दीर्घायु वृद्धोंकी पूजा प्रणामादिसे हम दीर्घायु हो सकते हैं, तो हम परमकल्याणमय चिर अमर, नित्य भगवान्‌की पूजा करनेसे अवश्य ही अति दीर्घायु और अमर हो सकेंगे। यदि विद्वान् गुरुकी पूजा करनेसे हम विद्वान् होते हैं, तो जो ज्ञानके आकर, ज्ञानस्वरूप और विद्यारूपिणी महाभक्तिके भी स्वामी हैं. उनकी पूजा करनेसे अवश्य ही हमें परम ज्ञानकी प्राप्ति होगी। यदि यशस्वी गुरुकी पूजा करनेसे यशोलाभ होता है, तो जिनके यशसे दिग्‌दिगन्त परिव्याप्त हो रहे हैं, उन अनन्त कीर्तिसागर करुणामय भगवान्‌की पूजा और उन्हें मन-प्राण अर्पण करनेसे सात्त्विक धर्ममय यश-सौरभ चारों ओर क्यों न फैलेगा ? अवश्य ही ब्रह्मयश-सौरभसे दशों दिशाएँ आमोदित होंगी। यदि बलवान् गुरुकी पूजासे बल प्राप्त होता है, तो जिनकी शक्तिकी सीमा नहीं है, जिनकी शक्तिको पाकर चन्द्र-सूर्य प्रकाशित होते और विश्वगोलककी तरह घूमते रहते हैं, जिनकी शक्तिके भयसे यम भी काँपते हुए अपने कर्त्तव्यपालनमें तत्पर रहते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की पूजा करनेसे, भक्ति और प्रणामकेद्वारा उन्हें प्राण-मन समर्पण करनेसे, उनसे हमें प्रचुर शक्ति प्राप्त होगी, इसमें सन्देह ही क्या है ? वे आनन्दमय हैं, उनके आनन्दसे ही पक्षी मधुर गान करते हैं, नाना वर्णके पुष्प उन्हींके आनन्दकी हँसी हँसते हैं, चन्द्रदेव अजस्र सुधाधाराओंसे उन्हींके आनन्दकी वर्षा कर समस्त जगत्‌को आनन्दित करते

हैं, अनन्त गगनकी अनन्त नक्षत्र मालाएँ उन्हींके नित्यानन्दमय तेजसे उद्भासित होता हैं, समुद्र हजारों हाथोंको उठाकर उन्हींके आनन्दसे मतवाला होकर नाचता रहता है, वायुदेव उन्हींकी प्राणमयी आनन्द-कणोंको लेकर दौड़ते फिरते हैं, उस शक्तिके सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी हम संसारमें रोग, शोक और दुःखोंमें क्यों व्याकुल रहते हैं ? उस आनन्दमयकी गोदमें रहते हुए हम क्यों रो रहे हैं ? इसका कारण यह है, कि उस आनन्दके साथ हमने मिलना नहीं सीखा है, जी भरकर उन्हें पुकारना हमें नहीं आता, उनकी पूजा करनेकी विधि हमने नहीं जानी है। नित्यानन्द प्राप्त करनेकेलिये आनन्दमय भगवान्‌की हमें पूजा करनी चाहिये। भगवत्पूजासे हमें संसारके दुःख आ नहीं घेरेंगे, रोग हमारे पास भी न आ सकेंगे, हमें कोई कष्ट न रहेगा। उनकी कृपासे—जबकि हम आनन्दमयकी सन्तान हैं—आनन्दमय होकर आनन्दधाममें गमन कर सकेंगे, इसी कारण आर्यशास्त्रोंमें भगवान्‌की नित्यपूजा करनेकी आज्ञा है। देखिये, भगवान्‌ने जो शक्ति आयु और प्राण प्रदान कर हमें संसारमें भेजा है, वह हम नानारूपसे वृथा नष्ट कर रहे हैं। हमें सोचना चाहिये कि, कौनसे कार्य करनेसे हमारी शक्ति, आयु और प्राण क्षीण होते हैं। यदि हम क्रोधी हों, छोटी छोटी बातोंपर क्रुद्ध होते हैं, तो हममें क्रोधजनित उत्तेजना बढ़कर वह हमारी शक्ति और आयुको क्षीण कर देगी। इसी तरह लोभी, अभिमानी और

ईर्ष्यालु होनेसे भी हानि है। हम धीर न होकर यदि सब दिन खेल-कूदमें, दौड़-धूपमें बिता दें, अधिक सो जायँ या सामान्य बातोंसे मातापितापर चिढ़कर रोने-सिर धुनने लगें, तो श्वासोंका अपव्यय होकर हमारी शक्ति, आयु, और प्राणशक्ति अवश्य ही क्षीण हो जायगी, हममें जो शक्तियाँ छिपी हुई हे, उनको जगानेकेलिये हमारे पास कौनसे उपाय हैं? एकमात्र उपाय है और वह यह कि जो सर्वशक्तिमान्, महाप्राण और चिरायु हैं, उनके साथ जी खोलकर हम मिलें, उनकी पूजा करें, उनके चरणोंमें प्रणाम करें, उनकी रमणीय चरित्रकथाओंकी कीर्तन और गान करें। ऐसा करनेसे हमारी क्षुद्रशक्ति क्षुद्रप्राण और अल्पआयु परिपुष्ट होगी, हमारी लुप्त प्राणशक्तियाँ पुनः जागेंगी और हमारी शक्ति, प्राण एवं आयु विशेषरूपसे बर्द्धित होगी, स्नानके पश्चात् प्रतिदिन भगवत्पूजा इसीलिये करनी चाहिये।

प्रातःकालमें पूजाकेलिये अपने हाथों फूल तोड़ लाना चाहिये, इससे बहुतसे लाभ हैं। रातभर चद्रामृत पानकर सब फूल सुधापूर्ण शक्तिमय हो जाते हैं। उनके चुनने तोड़नेमें हम उन्हें स्पर्श करते हैं, जिससे उनपर सिञ्चित अमृतका हमें भी लाभ होता है। प्रातःकालकी हरियाली हमारी आँखोंकी शक्ति इस कारण बढ़ाती है, कि उसपर पड़ा हुआ अमृत वायुकेद्वारा हमारी आँखोंमें जाता है। विशुद्ध सुगन्धिसे अन्तःकरण आह्लदित होता है और प्रातःकालकी

कोमल प्रकृतिका शरीर, मन और प्राणोंपर इतना प्रभाव पड़ता है, कि प्राय: रोगी भी उस समय प्रसन्न हो उठते हैं। जो रोगी नहीं, उनका आरोग्य बढ़ेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? सभी जानते हैं, कि तुलसीकी वायुसे मलेरिया नष्ट होता है। अत: प्रत्येक गृहस्थके घरमें तुलसीका वृक्ष होना आवश्यक है। तुलसी जिसके घरमें नहीं, उस घरको शास्त्रकार श्मशान सदृश समझते हैं। फूलोंके साथ प्रतिदिन यदि हम कुछ समयतक तुलसीके पास खड़े होकर उसके पत्ते तोड़ें, तो पूजाका उपकरण सम्पन्न होगा और मलेरियाके भयसे भी बचे रहेंगे। इसी तरह बेलपत्र, दूर्वाआदि भी रोगनाशक और स्वास्थ्यवृद्धिकर हैं। पत्र, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, कपूर, अक्षत, चन्दन, सौभाग्य द्रव्यादि लेकर घरके ठाकुरजीकी षोडशोपचारसे पूजा करना चाहिये, घरमें शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य, गणेश आदिके जो विग्रह हों, उनमेंसे जिनपर अधिक प्रेम हो, उन्हींकी विशेष भक्तिभावसे पूजा-अर्चा करनी उचित है। शेष देवताओंको भी उन्हीं आराध्यदेवके विभिन्न रूप समझना चाहिये, क्योंकि सभी देवता एक भगवान्‌के नानारूप हैं। जिस प्रकार मनुष्य कार्य-भिन्नताके अनुसार विविध रूप बनाता है, उसके भोजन, शयन, कार्यार्थगमन, वायुसेवन, स्नानआदि कार्योंके पृथक् पृथक् वेश होते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी जगत्‌के नाना कार्योंके सम्पादनार्थ शिव, विष्णु, दुर्गाआदिके रूप धारण करते हैं। इष्ट देतवा तथा

अन्यान्य देवताओंके भी स्तोत्रादि कठण्स्थ कर लेने चाहिये। पिता-माता, दादा, मौसी, फूफी आदि ठाकुरजीके पास वैठकर ध्यान करती हैं, उन्हींके अनुसार हमें भी अपने प्रिय इष्टदेवका ध्यान करना चाहिये, उनके गुणोंका गान करना चाहिये, रास्तेमें, घाटपर, वृक्षतले, देवमन्दिरोंमें, जहाँ कहीं किसी देवताकी मूर्ति देख पड़े, वहाँ भक्तिभावसे प्रणाम करना चाहिये और मनमें सोचना चाहिये कि, हमारे प्रिय इष्टदेव जैसे सर्वत्र विराजमान हैं, वैसे इन मूर्तियोंमें भी रमे हुये हैं। भगवान् सर्वव्यापक हैं। प्राणीमात्रमें पशु, पक्षी, मनुष्य आदिमें वे ही अंशरूपसे प्रकट हो रहे हैं। अतः किसी जीवको मारना या कष्ट देना, जगत्पिताको कष्ट देनेके बराबर हैं। इस पापसे नरककी घोर यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। पड़ोसी या सहपाठी विद्यार्थियोंके साथ मारामारी, विवाद या झगड़ा, इसी विचारसे न करना चाहिये। सभीको भगवान्के अंश जानकर उनके प्रति प्रेम करना आवश्यक है। अपने घर यदि कोई अतिथि या भिक्षा मागने आवे तो समझना चाहिये कि स्वयं भगवान् हमारी दयाबुद्धिकी परीक्षा लेने इस, वेशमें आये हैं। उनको नारायण-स्वरूप जानकर उनकी सेवा करनी चाहिये, अन्नादिसे उनको सन्तुष्ट करना चाहिये। प्रत्येक दरिद्रको नारायण समझकर उनकी सहायता करनी चाहिये। जलपानकेलिये यदि घरसे पैसा मिले तो उसे बचाकर दीन दरिद्रोंको देना चाहिये। कोढ़ी, लूले, अन्धे, पंगु,

विद्यार्थी और दुर्बल रोगी लोगोंकी सहायता करनेसे सच्ची जगत्सेवा होती है। ऐसे लोगोंकी स्वयं सेवा कर पिता-माताद्वारा भी उनके दुःख दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। हमारी इस प्रकारकी विश्वव्यापी पूजासे श्रीभगवान् प्रसन्न होकर हमें शक्ति, आयु और प्राण प्रदान करेंगे। विशेषरूपसे उनका आवाहन करनेपर वे स्वप्नमें दर्शन भी देंगे, हमारे साथ वातचीत करेंगे और हम उनसे मिलकर धन्य हो सकेंगे। फिर हमारे जीवनमें दुःख न रहेगा हम आनन्दमय जीवनको प्राप्त करेंगे। अतः पिता-माता और गुरुजनकी पूजाके साथ ही साथ भगवान्की पूजा करना भी सीख लेना चाहिये। प्रातःकालकी तरह सन्ध्याकालमें और हो सके तो, मध्याह्नमें भी भगवत्पूजा करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें लिखी हुई पायी जाती है।

भाई-बहिन

भाई-बहिनका सम्बन्ध बड़ा ही मधुर है। हम दोनों एक ही माता-पिताकी सन्तान हैं। एक ही महाप्राणसे हम दोनों गठित हुए हैं, इन मधुर विचारोंसे ही इस सुमिष्ट सम्बन्धकी उत्पत्ति हुई है। बचपनसे एकत्र रहने, एक साथ शिक्षा पाने और एक संग सुख-दुःखका अनुभव करनेआदि प्राकृतिक कारणोंसे यह मधुर सम्बन्ध मधुरतर होकर, भाई-बहिन दोनोंके

जीवनको अधिक मधुरिमामय, अमृतमय, बना देता है। दोनोंमें हम अधिक अच्छे होंगे और अधिक पढ़ेंगे, इस प्रकारकी स्पर्धा होनेपर भी ईर्षा नहीं होती। परस्पर खेलने-खाने और पढ़नेमें परस्परकी सहायता मिलनेपर भी अहंकार नहीं, किन्तु आनन्द-लाभ ही होता है। परस्पर सहायता करने या पानेमें संकोच नहीं होता। एक माता-पिताकी सन्तान होनेके कारण यह मधुर भाव आप ही आप उत्पन्न हो जाता है। इस भावकी रक्षा करनेसे भाई-भाईमें, बहिन-बहिनमें या भाई-बहिनमें चिरकालतक मेल रहेगा, कभी विरोध न होगा और गृहस्थाश्रममें किसी प्रकारकी अशान्ति अथवा कलहका बीजारोपण न हो सकेगा।

जो छोटे हैं, उन्हें बड़ोंसे दया और स्नेह पानेका अधिकार है। जो बड़े हैं, छोटोंपर दया और प्रेम करना तथा उन्हें सब प्रकारसे सहायता करना, उनका कर्त्तव्य है और इसका दायित्व उनपर है। हम बड़े क्यों हुए ? जब भगवान्‌ने छोटे भाई और बहिनोंसे पहिले हमें इस संसारका मुख दिखाया है, तब छोटों-का पालन और उनपर दया करनेका भार भी हमपर आ पड़ा है। यदि हम इस भारको ग्रहण न करें, तो भगवान्‌के निकट हम अप्रिय और अपराधी बनेंगे। हम श्रेष्ठ होनेपर भी यदि अतना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सकें, तो उस श्रेष्ठताका कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः छोटे भाई-बहिनोंपर प्रेम करना आव-श्यक है। जिस प्रकार बड़े भाई-बहिनोंके प्रति हमें श्रद्धाभक्ति

दिखानी चाहिये, उसी प्रकार छोटे भाई-बहिनोंपर हमें प्रेम करना चाहिये और उनका सब प्रकारसे कल्याण करनेके यत्न करना चाहिये। छोटोंको पहिले खिलाना चाहिये। यदि वे कुछ अनुचित आचरण भी करें तो उसको भूलकर, उन्हें समझाकर शान्त करना चाहिये। उनके खिलौने सावधानीसे रखने चाहिये। यदि वे खो दें तो अपने खिलौने उन्हें देना चाहिए। अपनी मेवा-मिश्रीमेंसे पेटसे बचाकर उन्हें देना चाहिये। अपनी पढ़ाईका विचार न कर उन्हें पढ़नेमें सहायता देनी चाहिये। उनकी शारीरिक अस्वस्थताके समय उनके पास बैठना और उनकी सेवा तथा आरोग्य-रक्षा करनी चाहिये। उनके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी होना चाहिये। छोटे भाई-बहिनोंके प्रति बड़ोंके ये सब कर्त्तव्य विधाताने स्वाभाविकरूपसे ही बताये हैं। इन कर्त्तव्योंमेंसे कुछ भी न भूलना चाहिये। ये सब कर्त्तव्य सहोदर भाई-बहिनोंकेलिये ही नहीं, चचेरे, फुफेरे, मौसेरे भाई-बहिनोंके प्रति भी ऐसा ही—सहोदरोंके समान ही व्यवहार करना उचित है। हमारी श्रेष्ठता इसीमें है। रामायणमें लिखा है कि, ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्र अपने अनुज लक्ष्मणको शक्तिशल्यसे विद्ध हुए देखकर जितने दुःखित हुए थे, उतना सीताके खो जानेसे नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि, "यदि लक्ष्मण नहीं बचेगा, तो मैं भी प्राणत्याग करूँगा, मुझे सीता उद्धारसे कोई प्रयोजन नहीं है।" मूर्च्छा-भंग होनेपर बानरोंने लक्ष्मणसे जब पूछा,

"कुमार! आपको कितने कष्ट हुए?" तब लक्ष्मणने उत्तर दिया "मूर्च्छा होनेपर मुझे किसी प्रकारके कष्टका बोध नहीं हुआ। आप लोग श्रीरामचन्द्रसे पूछें, कि उन्हें कितने कष्ट हुए, क्योंकि मुझे शक्तिशल्य लगते ही, दुःखशल्य श्रीरामचन्द्रकी छातीमें लगा था।" हमारे भाई-बहिनोंके रोम-रोममें जब इस प्रकारका सम्बन्ध स्थापन होगा, तभी हमारा यह नाशवान् संसार स्वर्गका नन्दन-कानन बन जायगा और भी देखा जाता है कि, सीताविरह या सीता-त्यागकी अवस्थामें श्रीरामचन्द्र जीवन धारण कर सके थे, किन्तु भाग्यचक्रसे धर्मरक्षाके हेतु लक्ष्मणका त्याग करनेकी जब उनपर बारी आयी, तब देहधारण करनेमें समर्थ नहीं हुए। लक्ष्मणका त्याग करते ही उन्होंने राज-त्याग किया और सरजूमें जाकर देह-विसर्जन कर दिया। हमारा भी हमारे कनिष्ठ भाई-भगनियोंके प्रति ऐसा ही उत्कट प्रेम होना चाहिये।

आहार।

आर्य-संस्कृतिकी यही विशेषता है कि, इसमें मनुष्यकी प्रत्येक चेष्टा धर्मसे सम्बन्धयुक्त है। उसमें आहार तो एक प्रधान क्रिया है, जिसका प्रभाव शरीर, मन और बुद्धिपर समान रूपसे पड़ता है। हम जो प्रतिदिन आहार करते हैं, वह

केवल रसनाकी तृप्ति अथवा उदर-पूर्तिकेलिये नहीं, किन्तु भगवान्की पूजाकेलिये करते हैं, श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है :—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

श्रीभगवान् वैश्वानर रूपसे प्रत्येक प्राणोमें बैठकर प्राण और अपान वायुकी सहकारितासे चर्व्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकारके भोज्य पदार्थोंको भक्षण करते हैं। अतः आर्यभोजनसे केवल उदर-पूर्ति ही नहीं होती, किन्तु श्रीभगवान्की पूजा भी होती है; इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनकी पवित्रतापर विशेष विचार किया गया है। इस सम्बन्धमें सबसे प्रथम स्थानका विचार करना चाहिये; अर्थात् चाहे जिस स्थानमें बैठकर या खड़े-खड़े भोजन करना ठीक नहीं; क्योंकि अशुचि स्थानमें पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता, उलटे भगवान् असन्तुष्ट होते हैं। भोजनका स्थान पवित्र, एकान्त और गोमय, जलआदिसे शुद्ध किया हुआ होना चाहिये। द्वितीयतः स्वयं पवित्र होकर भोजन करे; क्योंकि अपवित्र शरीर और अशुचि मनसे भगवत्पूजा करनेसे कोई फल नहीं होता। तृतीयतः जिस वस्तुसे पूजा करनी हो, वह पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये; क्योंकि अशुद्ध और तामसिक वस्तुओंसे भगवान्की पूजा नहीं की जाती। उससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्माका कलुषित होना

सम्भव है। अतः खाद्य द्रव्य शुद्ध और सात्त्विक होना आवश्यक है। चतुर्थतः पूजाकी वस्तु जिसमें संग्रह की जाय, वह पात्र अच्छा परिष्कृत होना चाहिये और वह किसी अपवित्र व्यक्ति अथवा जीवसे छुआ हुआ न हो; क्योंकि पूजाके फूल, नैवेद्यआदि नीच जीव या पापियोंसे छुए जानेपर पूजाके योग्य नहीं रहते; इसीसे पापी या नीच जीवोंका अन्न-ग्रहण करना निषिद्ध है। यही नहीं, किन्तु उनका छुआ अन्न भी ग्रहण न करना चाहिये। हमारे प्राचीन ऋषियोंने आहारपर बहुत विचारकर आहार सम्बन्धीय नाना प्रकारके आचारोंका निर्णय किया है। इन सब कर्त्तव्योंके मूलमें आध्यात्मिक कारणोंके अतिरिक्त लौकिक और वैज्ञानिक कारण भी निहित हैं, जो क्रमशः कहे जायँगे।

वेदोंमें लिखा है कि, हम जो कुछ खाते हैं, उसके स्थूल अंशसे रक्त, मांस, अस्थिआदि पुष्ट होती हैं और सूक्ष्म अंशसे मन, प्राण और बुद्धि सतेज होती है। देखा भी जाता है, कि दो दिन न खानेसे शरीर तो दुर्बल होता ही है, किन्तु उसके साथ ही साथ मन, प्राण और बुद्धि भी क्षीण हो जाती है, विचार करने, पढ़ने और बुद्धि परिचालना करनेकी भी शक्ति नहीं रहती। अतः अन्नके द्वारा शरीरके साथ ही साथ जब कि मन, प्राण और बुद्धि परिपुष्ट होती है, तब ऐसे स्थानमें बैठकर खाया जाय जहाँ अनेक अपवित्र लोग बैठते हैं, जो स्थान अपवित्र हैं, जहाँ अपवित्र चिन्ता या व्यापार होते हैं, जो अस्वास्थ्यकर अर्थात् मलिन है, तो अन्नके साथ

इन सब शारीरिक और मानसिक अपवित्रताओंका अवश्य ही सम्बन्ध होगा और इस प्रकारसे अन्न खानेपर शरीर, मन, प्राण, बुद्धिआदि सभी अपवित्र हो जायँगे। घृणित रोगोंसे युक्त लोगोंका स्पर्श आजकल प्रायः होता है और उससे कितने भयानक रोग एक दूसरेमें संक्रामित हो जाते हैं। यदि मनुष्यमें ऐसे रोग संक्रामित हो सकते हैं, तो अन्नमें उनका संमिश्रण हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। अतः चाहे जिसका छुआ, चाहे जिसके हाथका, चाहे जहाँ बैठकर भोजन करना उचित नहीं है। इससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, यह हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते परन्तु अलक्षित रूपसे वैसा हो जाता है। रोगकीटोंके नाश करनेकी जितनी वस्तुएँ और गन्धद्रव्य आविष्कृत हुए हैं, उनमें गोबर सबसे उत्तम और सुलभ रोग-जन्तुनाशक द्रव्य है, ऐसा जगत्के समस्त वैज्ञानिकोंने एक वाक्य होकर निश्चित किया है। इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भोजनका स्थान गोबरसे लीपनेकी व्यवस्था है। ऐसे ही विशुद्ध स्थानोंमें बैठकर भोजन करना उचित है।

द्वितीय: स्वयं पवित्र होकर भोजन करना चाहिये। अपवित्र शरीरसे अन्न ग्रहण करनेपर अन्न दूषित हो जाता है। उसका ठीक परिपाक नहीं होता और उससे शरीर, मन तथा बुद्धिकी उन्नति नहीं होती। शास्त्रोंमें लिखा है :—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियः प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्तेह्युदङ्मुखः॥

अर्थात् पूर्वाभिमुख बैठकर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है, दक्षिणाभिमुख भोजन करनेसे यश बढ़ता है, पश्चिमाभिमुख होकर भोजन करनेसे धन लाभ होता है और उत्तर मुख होकर भोजन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। पूर्व दिशासे प्राण और शक्तिका उदय होता है। प्राणस्वरूप सूर्यदेव पूर्वसे ही उदय होते हैं, इस कारण पूर्वाभिमुख होकर भोजन करनेसे आयुका बढ़ना स्वाभाविक है। शास्त्रोंमें और भी लिखा है :—

"पञ्चार्द्रो भोजनं कुर्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः।
हस्तौ पादौ तथैवास्यमेषा पञ्चार्द्रता मता॥"

दोनों हाथ, दोनों पाँव और मुँह धोकर, पूर्वाभिमुख हो, मौन अवलम्बन कर भोजन करे। महर्षि मनु महाराजने कहा है कि :—

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥

अर्थात् भींगे पैर भोजन करे, परन्तु शयन न करे। भींगे पैर भोजन करनेसे आयु बढ़ती है और शयन करनेसे घटती है। मौन होकर भोजन करनेको इसलिये कहा है, कि भोजन करते-करते बकवाद करनेसे लाला (लार) कम उत्पन्न होगी, जिससे मुँह सूखकर बीच-बीचमें पानी पीना पड़ेगा। लार कम उत्पन्न होने और मुँह सूखनेके कारण पानी पीनेसे पाचन-क्रियामें बाधा उत्पन्न होगी। महाभारतमें लिखा है, "एकवस्त्रो

न भुञ्जीत" केवल एक वस्त्र धारण कर भोजन न करे। भोजन करते समय एक उत्तरीय (दुपट्टा) ओढ़ लेना चाहिये; वह रेशमी हो तो अधिक अच्छा है। भोजन करते हुए शरीर-यन्त्रकी जो क्रियाएँ होती हैं, उनमें बाहरी वायु बाधा न पहुँचा सके, इसलिये सम्भवतः यह व्यवस्था की हो। रेशमी वस्त्र इस कारण अच्छा समझा गया है, कि रेशम भीतरी शक्तिको सुरक्षित रखकर बाहरी शक्तिका उसपर परिणाम नहीं होने देता। इस प्रकार पवित्र भावसे भोजन करना चाहिये। स्नानके पश्चात् ही भोजन करना उचित है, क्योंकि भगवत्पूजा बिना स्नान किये नहीं की जाती और पूजा किये बिना भोजन करना निषिद्ध है। शरीर अस्वस्थ रहनेपर गीले कपड़ेसे शरीर पोंछकर वस्त्र बदल दे और भस्मस्नान अथवा मानसिक स्नान कर ले। मानसिक स्नान, श्रीविष्णु भगवान्का स्मरण कर स्वर्गसे गंगाकी धारा आयी और उसमें स्नानकर मैं पवित्र हुआ, ऐसी दृढ़ भावना करनेसे होता है। भस्मस्नान शिवमन्त्रसे अग्निहोत्रकी विभूतिको अभिमन्त्रित कर देहमें लगानेसे होता है। भोजनमें चाहे सामान्य द्रव्य ही क्यों न परोसे हों, उन्हें देखकर प्रसन्न होना चाहिये। अन्नमें दोष देखना वा उसकी निन्दा करना उचित नहीं। अन्नका सदा आदर करना चाहिये। अन्नकी निन्दा या निरादर करनेसे पूजा ठीक सम्पन्न न होगी, चित्त-शुद्धिमें सहायता नहीं मिलेगी; जिससे भगवान् भी प्रसन्न नहीं होंगे। भोजनके

पहिले भोज्य-पदार्थोंका भगवान्‌को नैवेद्य दिखाकर, तब प्रसाद समझकर भोजन करे। प्रसादरूपसे भोज्य-पदार्थोंका सेवन करनेसे अन्नमें अनुचित आशक्ति न रहेगी। जब संसारकी सब वस्तुयें भगवान्‌की उत्पन्न की हुई हैं, तब उन्हें पकाकर भगवान्‌को बिना अर्पण कर खानेसे निस्सन्देह पाप होगा। गीतामें कहा है :-–

"तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।"

देवताकी दी हुई वस्तु उन्हें विना समर्पण किये जो खाता है, वह चोर है। अतः भगवान्‌को समर्पण करके ही अन्न-ग्रहण करना चाहिये। भोजन-पात्रके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें लिखा है, फूटे हुए काँसके पात्रमें, जूठे पात्रमें, ताम्बे और लोहेके पात्रमें, पलाश, कमल और आकन्दके पत्रपर, कदली पत्रके पृष्ठपर या वस्त्रपर खाद्य वस्तु रखकर भोजन न करे, सोने, चाँदी, पत्थर या स्फटिकके पात्र भोजनार्थ उत्तम होते हैं। पत्थर या स्फटिकके पात्र बंगदेशमें वर्ते जाते हैं। अन्य देशोंके लोगोंने उनमें घृताक्त, तैलाक्त पदार्थ भिन जाते हैं और धोनेपर भी नहीं निकलते इस कारण त्याग दिये हैं। सर्वत्र प्रायः कांसेकी थालियाँ कटोरे आदि जो फूटे न हो, भोजनकेलिये प्रचलित हैं और वे शास्त्रशुद्ध भी हैं। पिता-माताआदि गुरुजन जिस पात्रमें खा चुकेहों, वह पात्र जूठा नहीं माना जाता।

खाद्य वस्तुएँ पवित्र और सात्त्विक होनी चाहिये। इसका कारण पहिले बता चुके हैं, कि अन्नके सूक्ष्मांशसे मन, प्राण और

बुद्धि परिपुष्ट होती है। वह यदि तामसिक हो, तो मन, बुद्धि, प्राण और शरीर तामसिक होगा; जिससे ब्रह्मचर्य-धारण और साधना करना असम्भव होकर हम अपना जीवन भी धार्मिक न बना सकेंगे। इसी तरह राजसिक अन्नसे भी मन और बुद्धि चञ्चल होती है। अतः पवित्र और सात्त्विक अन्न ही ग्रहण करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें पश्चिमी देशोंने जिस प्रणालीसे विचार किया है, वह सर्वाङ्गदृष्टिपूर्ण नहीं है। उन्होंने केवल इतना ही विचार किया है, कि किस वस्तुमें कौनसा रासायनिक द्रव्य कितना है। 'यवक्षारजान' जिसमें न्यून हो वह अखाद्य और जिसमें अधिक हो, वह खाद्य, इतना हो मोटा सिद्धान्त उन्होंने बना लिया है। कौनसी वस्तु, किस ऋतुमें, किस प्रकारके शरीरके-लिये किस प्रकारसे सेवन की जाय; जिससे शरीर और मनका स्वास्थ्य परिवर्धित होगा, इसकी विधि पश्चिमी चिकित्सा-शास्त्रकी पोथियोंमें नहीं मिलती। उन देशोंमें शीत अधिक है, अतः एकसी ही वस्तुओंके बारहों मास सेवन करनेसे तद्देश-वासियोंका काम बन जाता है; परन्तु इस देशमें छहों ऋतु एकसे ही बलवान् हैं। ऋतु-भेदसे वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता होनेके कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्थामें कितना परिवर्तन होता है, यह जाननेकी ये अबतक चेष्टा नहीं करते। द्वितीयतः पश्चिमी देशोंकी यह निर्णय-विधि बड़ी ही जटिल है। वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् भी खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें अभी एकमत नहीं है।

तृतीयतः उदरमें जाकर इन सब खाद्य द्रव्योंका किस प्रकार विश्लेषण होता है और उससे शरीर-पोषणकारी कौनसे गुण उत्पन्न होते हैं, सामान्य रासायनिक विश्लेषणद्वारा उनका निरूपण नहीं हो सकता। चतुर्थतः इस देशके खाद्य द्रव्योंके साथ उस देशके खाद्य-द्रव्योंका मेल नहीं जमता, इस कारण उस देशकी परीक्षाओंसे इस देशके खाद्यद्रव्योंके गुणागुणका निर्णय नहीं हो सकता। सबसे बढ़कर बात यह है, कि खाद्यद्रव्योंके साथ मनका क्या सम्बन्ध है, सो पश्चिमी लोग नहीं जानते। अतः हमारे देशके खाद्याखाद्यका विचार हमारे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार ही होना चाहिये।

श्रीभगवान् कृष्णने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे खाद्य-द्रव्योंकों तीन भागोंमें विभक्त किया है। गीतामें लिखा है, कि सरस, स्निग्ध, सारवान् और हृदयग्राही आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और उग्र आहार राजसिक हैं और बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, पर्युषित, जूठा और अपवित्र आहार तामसिक है। सात्त्विक आहारसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि होती है। राजसिक आहारसे दुःख, शोक और रोग उत्पन्न होते हैं और तामसिक आहारसे जड़ता, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है। अतः राजसिक और तामसिक खाद्य-द्रव्योंका परित्यागकर सात्त्विक आहारका सेवन करना चाहिये। खाद्याखाद्यके सम्बन्धमें आगेके अध्यायमें विशेष विचार किया जायगा।

पहिले कह चुके हैं, कि स्पर्शास्पर्शसे एकके शरीरसे दूसरेके शरीरमें रोग संक्रामित होते हैं। केवल रोग ही नहीं किन्तु स्पर्शास्पर्शसे शारीरिक और मानसिक वृत्तियोंमें हेर फेर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यमें एक प्रकारकी विद्युतशक्ति रहती है, जो मनुष्यकी प्रकृति और चरित्रके भेदसे प्रत्येकमें विभिन्न जातीय होकर स्थित है। तामसिकोंमें तमोमयी, राजसिकोंमें रजोमयी और सात्त्विकोंमें सत्त्वमयी विद्युत विराजमान है। अन्ततः जिस वृत्तिके लोगोंके साथ रहा जाय, जिस वृत्तिके लोगोंका छुआ या दिया अन्न-सेवन किया जाय, उसी प्रकारकी वृत्ति सहवासियों अथवा अन्न-ग्रहण करनेवालोंमें संक्रामित होगी। भिन्न-भिन्न प्रकारकी विद्युतका प्रकृति-परिणाम एक दूसरेपर हुए विना न रहेगा। अतः चाहे जिसका छुआ या दिया हुआ अन्न ग्रहण न करना चाहिये। हिन्दुशास्त्रोंमें नीच, अपवित्र, पापी और चाण्डालादिका छुआ अन्न ग्रहण करनेका जो निषेध है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको अलग-अलग पंक्तियोंमें बैठकर भोजन करनेकी आज्ञा है, इसका कारण भी यही है कि,प्रत्येक वर्णकी विद्युत (प्रकृति) जन्मसे ही विभिन्न प्रकारकी होती है और उसका अन्य प्रकृतिमें संक्रमण होना स्वाभाविक है। अपनेसे निम्न श्रेणीके लोगोंके साथ बैठकर भोजन करनेसे अपनी उच्च गुणविशिष्ट विद्युत मलिन हो जाती है। इसके अतिरिक्त अपने वर्णके लोगोंके साथ भोजन करनेके सम्बन्धमें भी शास्त्रोंमें वहुत कुछ विचार किया गया है। यथा :—

"अप्येकपङ्क्तौ नाश्नीयात् संवृत्तः स्वजनैरपि ।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत् ।।
भस्मस्तम्बजलद्वारमार्गैः पंक्तिञ्च भेदयेत् ।"

आत्मीयोंके साथ भी एक पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि किसका कौन गुप्त पाप या रोग है, कौन जानता है ? अतः भस्म, तृण वा जलकी रेखा बनाकर पंक्ति भेद कर लेना चाहिये । भोजनके समय इन नियमोंका पालन करना आवश्यक है । यदि किसीसे अन्न लेना हो, तो सत्पात्र देखकर उससे लेना चाहिये, क्योंकि पापियोंसे अन्न ग्रहण करनेसे उसका पाप अपनेमें भी संक्रामित होगा । भीष्मपितामहने दुर्योधनका पापान्न ग्रहण किया था, इसीसे उनका ज्ञान लुप्त हो गया था और द्रौपदीके वस्त्र-हरणके समय वे द्रौपदीकी रक्षा नहीं कर सके थे । जब इतने बड़े महात्माकी भी पापान्नके ग्रहण करनेसे बुद्धि पलटती है, तब साधारण जीवोंकी कथा ही क्या है ? सारांश सत्पात्रके यहाँका यथार्थ निमन्त्रण स्वीकार करना और सत्पात्रका ही अन्न-ग्रहण करना चाहिये ।

दिनमें एकबार ही भोजन करना चाहिये । यदि पुनः भूख लगे तो, फल मूल खावे । माथा लपेटकर या जूता पहिन कर खाना उचित नहीं । अतिभोजन करना, अपवित्र भोजन करना निषिद्ध है । अतिभोजनसे शरीर रुग्ण और आयु क्षीण होती है । दिनकी तरह रात्रिमें भी एक ही बार और

लघु (हलका) भोजन करे। रात्रिमें निद्रावस्थामें स्नायु शुष्क दुर्बल रहती है, उस समय गुरु (भारी) भोजनका ठीक परिपाक (पाचन) नहीं होता। दिन या रात्रिका भोजन ऐसा न हो, जिसमें खूब चरपरे मसाले पड़े हों और जो पचनेमें जड़ हो। जड़ भोजनसे शरीर और मन दोनों बिगड़ते हैं। अतः सहज पचनेवाले हलके पदार्थ ही भोजनार्थ प्रस्तुत किये जायँ। सन्ध्याके समय भोजन न करे; क्योंकि संध्याके समय भूत-प्रेतोंकी दृष्टि अन्नपर रहती है। उनकी अन्नपर आसक्ति रहनेसे उस समय अन्नग्रहण करनेवालोंके अन्न परिपाकमें सन्देह रहेगा। इसी तरह अधिक रात बीत जानेपर भी भोजन न करे; क्योंकि भोजनोत्तर कमसे कम दो घण्टे जागकर तब सोना चाहिये। ऐसा न करनेसे अन्न नहीं पचेगा। अन्नके न पचनेसे गाढ़ निद्रा न लगेगी। अच्छी नींद न होनेसे नाना प्रकारके स्वप्न देख पड़ेंगे और निद्रा भङ्ग होगी; जिससे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। भोजन कर लेनेके कुछ समयके पश्चात् जलपान करना चाहिये। पीनेके जलमें सात गुण अवश्य हों। वह स्वच्छ, लघु, शीतल, सुगन्धित, स्वयं स्वादहीन, हृद्य और तृष्णा निवारक हो। जिस जलपर सूर्यकी किरणें नहीं पड़तीं अथवा जिस जलको वायु नहीं सोखता, वह अति स्वच्छ रहनेपर भी कफ उत्पन्न करता है। उस जलको गरम करके ठण्डा होनेपर पीये। ऐसा सिद्ध जल कास, श्वास, ज्वर, कफ, वात, आम और अजीर्णका नाश करता है। नारियल जल, मधुर, पाचक और

पित्तशामक होता है। लाल नारियलके जलमें केवल पित्तशमनका ही गुण है। सोडा वाटर, लेमनेडआदि क्षारयुक्त जल इस देशके आहार-विहार और जलवायुकेलिये सर्वथा अनुपयुक्त और अपथ्यकर है। भोजनोत्तर कुछ मुखशुद्धि सेवन करना चाहिये। इससे लाल निःसरण होकर अन्न पाचन-क्रियामें सहायता होती है। साधारणतः इलायची, अजमोद, अजवाईन, चिकनी सुपारी, लौंग आदि वस्तुएँ मुखशुद्धिकेलिये उत्तम हैं। पान खाना विद्यार्थियोंकेलिये निषिद्ध है; क्योंकि वह रक्त-वृद्धिकर होनेपर भी उत्तेजक होता है। विवाहित लोगोंकेलिये ताम्बूल भक्षण-की विधि है; परन्तु वह ताम्बूल बड़ी सावधानीसे बनाया जाय। पानके डण्टे रोग उत्पन्न करते हैं, सिराएँ वुद्धिनाश करती हैं, सड़ा पान आयुक्षयकर है, अग्रभाग पाक-जनक है। इनको बचाकर जो ताजे पानका अंश रहे, वही स्वास्थ्यकर होता है। शास्त्रोंमें लिखा है कि, भोजनके पश्चात् कमसे कम सौ पद चले और फिर वाईं कोखके बलपर कुछ समयतक लेटे। इससे अन्न-पाचन उत्तम होता है। जो वामकुक्षि होकर सोते हैं, दो बार भोजन, छः बार मूत्रत्याग और एक बार मल-त्याग करते हैं, वे सौ वर्षोंतक जीते हैं। ये ही सब हिन्दूशास्त्रोक्त आहारके नियम हैं।

———

खाद्याखाद्य विचार

हमारा शरीर प्रकृतिकेद्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः प्रकृतिके गुण और धर्म शरीरमें भी होंगे, इसमें सन्देह नहीं। प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं, इस कारण प्रत्येक शरी[illegible]में भी ये तीन गुण विद्यमान रहते हैं। इन तीनों गुणोंके अनुसार शरीरकी प्रकृति भी तीन प्रकारकी होती है। यथा—सत्त्वगुणके आधिक्यसे पित्त-प्रकृति, रजोगुणके प्रबल होनेसे बात-प्रकृति और तमोगुणको प्रधा-नतासे कफ-प्रकृति। जबतक ये तीनों (पित्त, बात, कफ) शरीरमें समभावसे रहते हैं, तभीतक शरीर नीरोग और स्वस्थ रहता है। तीनोंमेंसे किसी एकके बढ़ने या विकृत होनेसे शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है। तब बात, पित्त और कफको समभावमें लानेकी चिकित्सा की जाती है। चिकित्सा और पथ्यकेद्वारा बात, पित्त, कफका जैसा सामञ्जस्य किया जाता है, वैसा ही साधारण अव-स्थामें भी भोजनादिद्वारा यत्न किया जाता है, कि तीनों समान भावसे रहें। प्रकृतिके प्रभावसे षड्ऋतुओंका विकास होता है। ऋतुविपर्ययसे भी तीनों न्यूनाधिक हुआ करते हैं। अतः ऋतुके अनुसार ही खाद्याखाद्यका निर्णय करना उचित है। त्रिगुणके तारतम्यानुसार साधारणरूपसे खाद्याखाद्यका निरन्तर विचार रखना आवश्यक है। अतः संक्षेपरूपसे सर्ववादि-सम्मत खाद्याखाद्य-का उल्लेख क्रमशः किया जाता है।

हेमन्त और शिशिर ऋतुमें वायु कुपित होता है। इस ऋतुमें मीठा, खट्टा और खारा आहार करना योग्य है। मैदा, ईखका रस, दूध और स्निग्ध उष्ण वीर्यवाले द्रव्य सेवन करने योग्य हैं। अति शीतल जल नहीं पीना चाहिये। उष्ण शैय्यापर शयन, उष्ण गृहमें निवास और अग्नि तापना तथा धूपमें बैठना उक्त ऋतुके अनुकूल है। बसन्तमें कफ कुपित होकर अग्नि मन्द होती है। इस ऋतुमें जठराग्नि बढ़ानेवाले पदार्थोंका सेवन और भ्रमण व्यायाम आदि हितकर होते हैं। विशेषतया इस ऋतुमें शरीर बहुत स्वच्छ रखना चाहिये। पुराने गेहूँ, यव, चावल, घी, दूध, सोंठका शरवत और तीते कडुवे काढ़े इस ऋतुमें सेवन करने योग्य हैं। ग्रीष्ममें पित्त कुपित होता है। इस ऋतुमें स्वादु, शीतल, स्निग्ध, शर्करायुक्त पानी और दूधके साथ खानेयोग्य अन्नका भोजन करनेसे ग्रीष्मकी बाधा नहीं होती। खारा, खट्टा, कडुवा और उष्ण द्रव्य न खावे। पुराने चावल, यव, काले छिलकेकी मूँगकी दाल, लघुपाक (शीघ्र पचनेवाले), स्वादिष्ट, घृतादिसे बने हुए सरस पदार्थ और शीतल पाचक जलका सेवन इस ऋतुके योग्य है। इस ऋतुमें व्यायाम घटा देना चाहिये। वर्षाकालमें वृष्टिके कारण जल दूषित हो जाता है, तथा जठराग्नि तेजोहीन होती है, जिससे वायु, पित्त और कफ तीनों कुपित हो जाते हैं। इस ऋतुमें बहुत ही सावधानीसे भोजनादिका विचार रखना उचित है। अग्निवर्द्धक लघुपाक द्रव्य, पुराने चावल,

मूँगकी दाल और स्वच्छ कुएँका अथवा आकाश (वृष्टि) का जल वर्षाकालमें हितकारी होता है। ऊँचे स्थानमें सोना आवश्यक है और अति परिश्रम, धूपमें बैठना, ठण्ढी हवाका सेवन, नदीका जलपान तथा अधिक जलयुक्त द्रव्योंका ग्रहण करना हानिकर है। शरदऋतुमें भी पित्त कुपित होता है। इस ऋतुमें मधुर, तीते और कसैले पदार्थ उपकारी होते हैं। पित्त-प्रकोप-करनेवाले द्रव्य निषिद्ध और चावल, गेहूँ, अरहर, बिना छिलकेकी मूँगकी दाल, घी, दूध, ईख, आँवला, परवर ये सब पदार्थ भक्षण करनेयोग्य हैं।

रसोंके गुणागुणकें सम्बन्धमें शास्त्रोंमें लिखा है कि, मधुर रस प्रीतिजनक, बलकर, वीर्यवर्द्धक और वातनाशक; अम्लरस अत्यन्त रुचिकर, रक्त-मांसवर्द्धक, पाचक और कफवर्द्धक; लवणरस रेचक, पाचक और पित्तवर्द्धक; तिक्तरस पित्त, कफ, चर्मरोग तथा ज्वरनाशक, दीपक, पाचक और क्रिमिनाशक; कषायरस शोधक, रसनाशक, वायुवृद्धिकर और श्लेष्मानाशक; कटुरस अग्निवर्द्धक, श्लेष्मानाशक और पित्तवृद्धिकर; उष्णरस पित्त-वर्द्धक, वीर्यवर्द्धक, लघु और वात-श्लेष्मा-दोषनाशक एवं शीतल-रस पित्तनाशक, गुरु, कफवातकर और बलकारी होता है। अपने शरीरकी प्रकृति, समय तथा ऋतुके अनुसार भिन्न-भिन्न रसोंके सेवन करनेसे स्वास्थ्य अच्छा रह सकेगा।

शास्त्रोंमें गोदुग्धकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। यह प्राण-

देनेवाला, रक्त-पित्त-नाशक, वायु-हारक, आयुवर्द्धक, पौष्टिक रसायन है। भैंसके दूधकी कही प्रशंसा पायी नहीं जाती; क्योंकि पशुओंमें गौ परम सात्त्विक पशु है। इसस बढ़कर कोई सात्त्विक पशु है ही नहीं। इसी गौ-दुग्धसे सात्त्विक भाव बढ़ते हैं। भैंस तमोगुणी पशु होनेसे उसका दूध भी, पीनेवालोंमें तमोगुण उत्पन्न करता है। जो अपना ब्रह्मचर्य बनाये रखना चाहते हैं, उन्हें महिष दुग्ध छोड़ देना चाहिये और गो-दुग्धका सेवन करना चाहिये। क्योंकि महिष-दुग्ध ब्रह्मचर्यका शत्रु है। गोदुग्धकी तरह गोघृत और गोदधिकी भी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा है। गोघृत नेत्रोंका तेज बढ़ानेवाला, बलप्रद, मधुर, शीतल और वात-पित्त-नाशक होता है। 'आयुर्वैघृतम्' अर्थात् घृत आयुस्वरूप है, इस वेद-वचनके भाष्यकारोंने 'घृत' शब्दका अर्थ 'गोघृत' किया है। गौका दही वात-नाशक, स्निग्ध, दीपक और बलवर्धक है। दहीका मट्ठा या कढ़ी भी बड़ी गुणकारी है। निर्जल दही या कढ़ी पित्तनाशक, वात-नाशक और कफवर्द्धक तथा मट्ठा लघु, कषाय और दीपक होता है। उसमें सैन्धव नमक मिलानेसे वात-नाशक, शर्करा मिलानेसे पित्तनाशक और त्रिफला या सोंठ और क्षार मिलानेसे वह कफ-नाशक भी हो जाता है। नमक मिलाया हुआ, फटा, मृतवत्सा और बालवत्साका दूध पीना निषिद्ध है। प्रसव होनेपर दश दिनोंतककी गौको बालवत्सा कहते हैं।

वेद और शास्त्रोंको माननेवाली आर्यजातिमें खासकर

उसके आयुर्वेद-शास्त्रके अनुसार प्रत्येक पदार्थका द्रव्यगुण माना गया है। जैसे सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंके अनुसार पित्त, बात और कफ यह तीन शरीरके दोष माने गये हैं, जो असमान होनेसे शरीरके पीड़ाका कारण हो जाते हैं; उसी शैलीके अनुसार प्रत्येक पदार्थमें सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका होना देखा जाता है। यहाँतक कि वायुके भी अलग अलग गुण माने गये हैं। लोहेकेद्वारा जो वायु चलायी जायगी, उसका गुण और होगा तथा पत्तेके पंखे द्वारा जो वायु चलायी जायगी उसका गुण और होगा। इसी प्रकार संस्कृत अग्नि, गोबरके कण्डेकी अग्नि अलग अलग काष्ठोंकी अग्निके अलग अलग गुण माने गये हैं। इसी प्रकार जल और मिट्टीके भी अलग अलग गुण माने गये हैं। इसी सूक्ष्म दृष्टिके अनुसार सनातनधर्मी आचार्यवृन्द सब भोजन पदार्थोंका अलग अलग गुण मानते हैं। उदाहरणरूपसे कुछ कहे जाते हैं। गौके दूध और घृतको महिषके दूध और घृतसे सात्त्विक माना गया है। चावल, जौ, तिल और गेहूँ आदि अन्नको सात्त्विक माना गया है। दालमें मूँगकी दाल और मटरकी दालको सात्त्विक माना गया है, औरोंको राजसिक तामसिक माना गया है। इसी प्रकार मांस, मत्स्य, अंडा आदि आमिष भोजनको निन्दनीय माना गया है और निरामिष सात्त्विक भोजनको आदरणीय माना गया है। सत्त्वगुणका सब पदार्थ आयु, आरोग्य मेधा बुद्धिआदिको बढ़ानेवाला होता है, इसमें सन्देह नहीं।

शाक-तरकारियोंमें परवल बहुत उत्तम गिना गया है, यह त्रिदोषनाशक है। इसका पत्ता पित्तनाशक और जड़ कफनाशक है। वथुआकी शाक लघु, अग्निवर्द्धक और बलवर्द्धक है। ब्राह्मीकी शाक बड़ी उपकारी है। यह मेधा-आयु स्मृतिवर्द्धक, जरा-दोष निवारक, कफ-पित्त-नाशक और स्वर-शक्तिवर्द्धक है। निम्ब (मीठी नीम) की शाक पित्त, कफ, व्रण, कुष्ठादि दोषोंका नाश करती है। मूली गुरु कोष्ठबद्ध करनेवाली, त्रिदोषकारी है; किन्तु स्निग्ध बनाकर खानेसे पित्तको बढ़ानेवाली और कफ-वायुनाशक हो जाती है। पालकी शाक, कफ-पित्तनाशक, रुक्ष और वायु-वर्द्धक है। चौराई मधुर, शीतल, अजीर्णकर, पित्तनाशक और गुरु है। तिपत्तियाकी शाक धारक, त्रिदोष-नाशक एवं गात्रदाह-निवारक है। केलेका फूल, कफनाशक, कृमिनाशक, कुष्ठ-प्लीहा-ज्वरहारी, दीपक और मलशोधक है। लौकी या कोहड़ा, पित्त-कफनाशक और शीतल है। जमींकन्द, दीपक, कफनाशक, कोष्ठको शुद्ध करनेवाला, लघु और अर्श-रोगोंमें उपकारी होता है। अरुई, आमवातजनक और गुरु होता है।

फलोंमें अनार, आम, बेल, नारियल और नीबू, ये फल उत्तम होते हैं। केला और कटहर गुरुपाक (शीघ्र न पचनेवाले) होनेके कारण उनका अधिक सेवन न करे। अमरूद भी गुरु और रेचक होनेसे अधिक न खाना चाहिये, ईख रक्तपित्तनाशक, बलवर्द्धक, कफवर्द्धक, मधुर और स्निग्ध है। गुड़ वात-पित्तनाशक

रक्त शुद्धिकर मधुर और स्निग्ध है। हर्र और आँवला बहुत ही उपकारी है। इसके सेवनसे त्रिदोष दूर होते हैं। अबतक खाद्य (खानेयोग्य) का विचार किया गया। अब अखाद्य (न खानेयोग्य) का विचार किया जायगा।

घी, शहद और मूली एक साथ न खाय। ठण्ढा भात पुनः गरम करके खाना वर्जित है। अमड़ा, निब्बू, केलेका फूल, अमरूद. नारियल, अनार, आँवला या और कोई खट्टी वस्तु दूधमें मिलाकर न खानी चाहिये। शहदको गरम करके न खाँय, काँसेके पात्रमें दश दिन घी रक्खा रहे, तो वह न खाना चाहिये। जो मिठाई कुछ दिन पड़ी रहनेसे खट्टी हो जाय, उसे खाना अनुचित है। जुआँ आदि घृणित कृमि-संसृष्ट, व्यभिचारिणी स्त्री या स्त्रैण पुरुषका, पैरोंसे कुचला या जूठा, चोरका, वेस्याका या सूतक लगा हो, उस व्यक्तिका अन्न ग्रहण न करे। बेर कुपथ्यकी वस्तु है, उसे न खाना ही अच्छा है। लहसुन, प्याज, गाजर नितान्त अखाद्य हैं। इन तामसिक फलोंको कभी न खाना चाहिये। इनके खानेसे मन चञ्चल होता है तथा अन्तःकरण श्रीभगवान्‌की ओरसे हटकर विषयकी ओर आकृष्ट होता है। लहसुन, प्याजआदिकी तरह मांस, मछली, अण्डे आदिके भक्षणसे भी सत्त्वगुण नष्ट होकर रजोगुण और तमोगुण बढ़ता है तथा बुद्धि विषयासक्त होकर अन्तमें भ्रष्ट हो जाती है। मांसभोजी कभी सत्त्वगुणी नहीं देख पड़ेगा। मांस खानेवाले व्याघ्रआदि और तृणभोजी गौआदि पशु इसके

प्रमाण हैं। मांसाशी पशु-पक्षियोंकी जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है, मांसभोजी मनुष्योंकी वैसी ही प्रकृति और प्रवृत्ति बन जाती है। श्वान, शूकर मांसभोजी हैं, इसीसे अति कामुक और अस्पृश्य हैं। जैसा भोजन होगा, वैसी बुद्धि होगी। पशु-पक्षियोंमें देख पड़ता है कि, जिसका आहार सात्त्विक, वे शान्त; जिनका राजस, वे विलासी और जिनका तामस, वे क्रूर होते हैं। मनुष्योंको भी इन ईश्वरीय उदाहरणोंको देख अपना आहार सात्त्विक रखना उचित है। मांस खानेसे कुष्ठ, कैन्सर (गलेके घाव) आदि रोग होते हैं। अतः मांस न खाना ही उचित है। मांसकी तरह मछली भी दुर्गुणकारी है! यद्यपि मछली राजसिक है, तथापि उसके खानेसे सात्त्विकताका नाश होता है। सारांश यह है, कि किसी सजीव और सुख-दुःखका अनुभव करनेवाले प्राणीको मारकर खानेकी इच्छा ही मनुष्यमें हिंसावृत्ति और पाशविक भाव उत्पन्न करती है, अतः जो जीवनमें आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हों, उन्हें मांस-मछलीआदिका त्याग कर ही देना चहिये। कितने लोग यह समझ बैठे हैं कि, मत्स्य-मांस न खानेसे आयु घटती है, आँखें बिगड़ती हैं, अम्लपित्तादि रोग होग होते हैं। उनकी यह समझ निरी भ्रममूलक है। निरामिषाहारी पञ्चद्राविड़ और बङ्ग या अन्य प्रान्तोंकी विधवायें—जो मत्स्य-मांस खाना छोड़ देती हैं—देखिये कैसी नीरोग, दीर्घायु और सशक्त हुआ करती हैं। खानेके पदार्थोंमें अधिक मिर्चा झोंक देना उचित नहीं है।

मिर्चा अत्यन्त उष्ण, गुरु और वीर्यनाशक वस्तु है। मिर्चाकी जगह मिरच छोड़ना उपकारी होगा।

इन बातोंके अतिरिक्त हमारे शास्त्रोंमें वार और तिथि-भेदके अनुसार भी खाद्याखाद्यका विचार किया गया है। सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, शनिआदिका आकर्षण-तारतम्य ही इस विचार-के मूलमें है। अष्टमी अमावस्या और पूर्णिमाको पृथ्वीपर चन्द्रके आकर्षणका प्रभाव बहुत होता है। जल तरल पदार्थ है; इस कारण उक्त तिथियोंमें समुद्रका जल उछलने लगता है, जिससे ज्वार-भाटा होता है। शरीरमें भी कफ, रक्त, मस्तिष्क आदि जो जलीय पदार्थ हैं, उक्त तिथियोंमें उनका उछलना भी स्वाभाविक है। चन्द्रके इस प्रकारके आकर्षणसे ही अमावस्या और पूर्णिमाको वातरोग और कफादिकी वृद्धि होती है, अतः इन तिथियोंमें कम खाना, नीरस शुष्क वस्तु खाना या दिन रात न खाना, कमसे कम रातको न खाना अच्छा है। उपवास-से देहका रस शुष्क होकर उसपर चन्द्रके आकर्षणका परिणाम नहीं होता और उससे रसाधिक्यसे होने वाले कोई रोग शरीरमें उत्पन्न नहीं होते। चन्द्रमा मनका देवता होनेसे इन तिथियोंमें उसके आकर्षणका प्रभाव मनपर पड़कर वह चञ्चल हो उठता है। उक्त तिथियोंमें उपवास कर अथवा एकाहारी रहकर भगवान्‌में ध्यान लगानेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करने-से मन शान्त रहेगा और आहार कम करनेसे शरीर नीरोग होगा।

अतः हिन्दूशास्त्रोक्त तिथियोंमें उपवास और, उपासना करनेसे उन तिथियोंमें जो वातादिरोग, चित्तकी चञ्चलता और भगवद्भजन विमुखताआदि दोषोंके उद्भव होनेका भय है, वह मिट जायगा। उपर्युक्त ग्रह विज्ञानके विचारसे ही भिन्न भिन्न तिथियोंमें विभिन्न खाद्याखाद्यका निर्णय ऋषियोंने किया है, तथा— चातुर्मास्यमें श्वेत सेम, परवल, बैंगन, माघमें मूली, रविवारको लौकी, मसूर, नीम, आदी; मंगलवारको उर्द एकादशीको भात न खाना चाहिये इत्यादि। यद्यपि बालकोंको (विद्यार्थियोंको) खाद्याखाद्यका विचार रखना आवश्यक है, तथापि वे शास्त्र-मर्यादाका पालन करें, इसका ध्यान उनके अभिभावकोंको ही अधिक रखना उचित है।

———

विश्राम और निद्रा

—:o:—

यदि शरीरसे दिन-रात काम लिया जाय और उसके अंग प्रत्यंग और स्नायुओंको विश्रान्ति न मिले तो वह चल नहीं सकता निद्रावस्थामें उन्हें वैसी विश्रान्ति मिल जाती है। अतः निद्रा प्राणीमात्रकेलिये अनिवार्य है। पशुपक्षी भी सो जाते हैं। मनुष्योंमें भी परिश्रमके तारतम्यानुसार निद्रामें न्यूनाधिक्य हुआ करता है। बच्चे दिनभर खेला कूदा करते हैं, इस कारण उसके अङ्ग-प्रत्यंग और स्नायु बहुत थक जाते हैं।

उन्हें अधिक निद्रा लगना स्वाभाविक है, वृद्धावस्थामें दौड़धूप, परिश्रम और मस्तिष्कके कार्य थोड़े होते हैं, इस कारण बूढ़ोंको नींद कम आती है। विद्यार्थी और युवक जैसे परिश्रम करते हैं, वैसी उनको निद्रा भी आती है। साधारणतः छः घण्टा सोनेसे शरीरकी थकावट मिट जाती है, आवश्यकतासे अधिक सोनेसे अधिक निःश्वास व्यर्थ निकल जाते हैं, जिससे आयु क्षीण होती है। अतिनिद्रा भी एक रोग है।

किस प्रकार, किस समय, कैसी शय्यापर, कैसे घरमें सोना चाहिये, इसका भी हमारे शास्त्रोंमें विचार किया गया है। हिन्दू शास्त्रकारोंने दिनमें सोनेका बड़ा निषेध किया है। वेदोंमें लिखा है :—"मा दिवा स्वाप्सीः" अर्थात् दिनमें नींद न लो। दिनमें सोनेसे कफ, आलस्य और जड़ता बढ़ती है, एवं आयु क्षीण होती है। पहिले कहा गया है कि, समस्त ब्रह्माण्डमें सूर्य ही प्राणस्वरूप और शक्तिका निधान है, इसलिये ब्राह्म-मुहूर्तसे लेकर सन्ध्या समयपर्यन्त जबतक सूर्यशक्ति पृथ्वीपर फैली हो, तबतक निद्रावस्थामें न रहकर जाग्रतभावसे सूर्यके साथ सम्पर्क रखना चाहिए। ऐसा करनेसे जीवनके क्षुद्र प्राणमें सूर्यका महाप्राण सञ्चरित होकर जीव पुष्टप्राण और दीर्घायु हो सकेगा। शास्त्रकारोंने दिनमें और सन्ध्या समयमें सोना इसी विचारसे निषिद्ध माना है, ग्रीष्म ऋतुमें उष्णताधिक्यसे रात-भर नींद नहीं आती और दिनमें भी बेचैनी बनी रहती है, इस कारण शास्त्रोंमें, आवश्यकतानुसार कोई दिनमें थोड़ासा सो ले

तो उसका निषेध नहीं किया गया है। अन्य ऋतुओंमे तो दिवा-निद्रा सर्वथा त्याज्य है।

किस दिशाकी ओर शिर करके निद्रा लेनी चाहिये इसका विचार करते हुए शास्त्र कहते हैं, पूर्व अथवा दक्षिणकी ओर शिर करके सोना प्रशस्त है। इस शास्त्रीय-आज्ञामें वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है, समस्त पृथ्वीपर जो विद्युत्-धारा प्रवाहित हो रही है, वह दक्षिण दिशासे उत्तरकी ओर जाती है। जहाजके कम्पासको देखिये, उसके बीचका चुम्बकका काँटा सदा उत्तरकी ओर ही रहता है। समुद्रमें दिग्ज्ञानका यही काँटा एकमात्र साधन है। यदि हम उत्तरकी ओर शिर करके सो जायँ, तो वह पार्थिव विद्युत् हमारे पैरोंसे होकर शिरकी ओर प्रवाहित होगी, जिससे शिरोव्यथा या ऐसेही शिरके अन्य रोग उत्पन्न होंगे और स्नायुपुञ्जोंमें अस्वाभाविक उत्तेजना बढ़कर प्रकृति अस्वस्थ हो रहेगी। सब दिन परिश्रम करनेसे स्नायु और मस्तिष्क आप ही दुर्बल हो जाते हैं, तिसपर निद्रा-वस्थामें विद्युत्तेज यदि उलटा ग्रहण किया जाय, तो शरीर अधिक अस्वस्थ होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? यदि दक्षिण-की ओर शिर करके सोवे, तो विद्युत् शिरसे पैरोंकी ओर जायेगी जो स्वाभाविक है। इससे किसी प्रकारकी पीड़ा होनेकी सम्भावना नहीं हैं। पश्चिमकी ओर शिर करके सोनेसे भी वही हानि है, जो उत्तरकी ओर शिर करके सोनेसे, क्योंकि जिस प्रकार पार्थिव विद्युत् दक्षिणसे उत्तरकी ओर प्रवाहित

होती है, उसी प्रकार सूर्यदेवकी प्राणमयी विद्युत्शक्ति भी पूर्वसे पश्चिमकी ओर प्रवाहित होती है। उपर्युक्त विज्ञानानुसार पश्चिमकी ओर शिर करके सोनेसे भी मस्तिष्क और स्नायु-मण्डलमें पीड़ा उत्पन्न होगी। अतः पूर्व या दक्षिण शिर सोना ही उचित है। आर्यशास्त्रोंमें उत्तर अथवा पूर्वाभिमुख बैठकर पूजा-पाठ, ध्यान-धारणाआदि देवकार्य करनेका आदेश है, इसका कारण भी यही है कि, सौर और पार्थिव विद्युत्-शक्तिका सम्बन्ध शरीरके साथ बना रहे, जिससे शरीर शक्तिसम्पन्न हो।

एक बिछौनेपर अनेक लोगोंका सोना या पास-पास आमने-सामने सोना आरोग्यकारक नहीं है, इससे एककी नाकसे निकले हुए श्वास दूसरेकी नाकमें प्रविष्ठ हो अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। आर्यशास्त्रोंमें माथेके निकट जलपूर्ण घट रखकर सोनेकी विधि लिखी है, यथा :—

"माङ्गल्यं पूर्णकुम्भञ्च शिरःस्थाने निधापयेत्।"

पश्चिमी विज्ञानवेत्ता भी इस विधिसे सहमत हैं। उनका कथन है कि, बन्द घरमें एक भरा घड़ा रखनेसे उस घरमें जो दूषित गैस होती है, वह उस घड़ेके जलमें मिलकर घरका वातावरण विशुद्ध हो जाता है। ऐसा रखा हुआ जल दूषित हो जाता है, वह पीना न चाहिये। पीनेका जल कोठरीके बाहर रखा जाय। शयनगृहमें वायु और प्रकाशकी कमी न रहे, नहीं तो रोग उत्पन्न होंगे, निद्राके समय वायु या प्रकाश अधिक भी

न रहे; क्योंकि निद्रा तमोगुणका कार्य है। तमोगुण अन्धकार-मय होता है। अतः अन्धकारमें ही गाढ़ निद्रा हो सकती है। निद्रावस्थामें शरीरके वस्त्र कुछ शिथिल होने चाहिये। सीधी वायु यदि शरीरमें लगे तो पीड़ा होना सम्भव है। अतः बिछौनेसे वह खिड़की जिससे वायु आती हो, कुछ दूर होनी चाहिये। निद्राके स्थानमें मिट्टीके तेलका या गैसका दीपक अथवा पत्थरके या लकड़ीके कोयलेकी अग्नि नहीं रखनी चाहिये। कभी-कभी पत्थरके तथा लकड़ीके कोयलेकी अग्निसे उत्पन्न हुई गैससे मनुष्य मर भी जाते हैं। शयनगृहमें पत्र, पुष्प और खाद्यद्रव्य भी न रखने चाहिये, उससे नाना प्रकारके गन्ध निकलकर और चिउँटियाँ, मक्खियाँ, मच्छड़आदि बढ़कर निद्रामें वाधा पड़ती है। पलँग, खटिया या चौकीपर सोना त्रिदोषनाशक है। कपासकी शय्या वात और कफनाशक है। सुशय्यापर सोना तृप्ति, पुष्टि और निद्राप्रद, श्रम और वायुनाशक एवं बलवर्द्धक है। अधिक कोमल शय्यापर सोना न चाहिये। उससे ब्रह्मचर्य-रक्षामें बाधा होती है। ब्रह्मचर्य-रक्षाकेलिये भूमिशायी होना ही शास्त्रानुमोदित है। मिट्टीपर, घासपर, पट्टुएपर, अपवित्र बिछौनेपर अथवा टूटी खटियापर सोना निषिद्ध है। गोबरसे लीपे हुए और सूखे स्थानमें शयन करना चाहिये। धान्य, गौ, ब्राह्मण और देवता जहाँ हों, उसके ऊपरकी भूमिपर एवं नग्न, आर्द्रपाद तथा आर्द्रवस्त्र पहिन कर सोना अनुचित है। शयनके पहिले श्रीभगवान्का स्मरण कर उन्हींका गुणानुवाद करते

करते सो जाना चाहिये। ऐसा करनेसे सुख-निद्रा होती है और सुस्वप्न देख पड़ते हैं।

व्यायाम।

—:०:—

व्यायाम शरीरकी एक अनिवार्य आवश्यकता है, इस कारण प्रकृति-राज्यके पशु-पक्षीआदि सभी जीव किसी न किसी रूपसे व्यायाम अवश्य करते हैं, इसी कारण मनुष्यके स्वास्थ्य और आरोग्यकेलिये व्यायाम अत्यावश्यक है। इससे शरीर अच्छा रहता है, स्नायु सतेज होते हैं, जड़ता हटकर शरीर फुर्तीला कर्मपटु बनता है, क्षुधा बढ़ती है और वृथा मेदा बढ़कर शरीर भारी और अकर्मण्य नहीं बना रहता। प्रतिदिन नियमित व्यायाम करनेसे जिस प्रकार उपर्युक्त लाभ हैं, उसी प्रकार अतिरिक्त व्यायामसे हानि भी है। उससे प्रधानतया क्षुधामान्द्य होकर शरीरमें आलस्य भर जाता है। व्यायाम थोड़ा थोड़ा बढ़ाते रहनेसे उपकार होता है। अपराह्णकी अपेक्षा प्रातःकालमें ही व्यायाम करना, इस देशकेलिये प्रशस्त है। व्यायामका जिन्हें अभ्यास है, उन्हें सब ऋतुओंमें वह हितकारी ही होगा। बसन्त और शीत-काल व्यायामकेलिये अधिक उपयुक्त है। अवस्था तथा शरीर-रचनाभेदसे व्यायामका भी तारतम्य हुआ करता है। कुस्ती,

मलखम, दण्ड, बैठक, जोड़ी फेरना, दौड़ लगाना, तैरनाआदि सभी व्यायामकी क्रियाएँ उत्तम हैं। व्यायाम तभीतक करना चाहिये, जबतक बगलोंसे, माथेसे और ग्रीवासे पसीना न चू निकले। प्रकृति अस्वस्थ रहनेपर, उपवासके दिन अथवा शरीर क्षीण होने-पर व्यायाम करना निषिद्ध है। छोटे बच्चोंकी स्वभावतः खेलमें रुचि रहती है। खेलनेमें ही उनका व्यायाम हो जाता है। कबड्डी, दौड़ लगाना आदि खेलोंसे व्यायामका कार्य सिद्ध होनेपर भी फुटबाल, क्रिकेट आदिकी तरह वह व्ययसाध्य नहीं है। हमारे देशकेलिये सरल, सजह और बिना व्ययका व्यायाम ही उपयुक्त है। जो सहज हो सकता है, उसकेलिये आडम्बरका क्या प्रयोजन है? आडम्बर बढ़नेसे अस्वाभाविकता बढ़कर स्वाभाविकताकी माधुरी निकल जाती है। सनातनधर्मके अनुसार आचार-पालनका सम्बन्ध स्थूल-शरीरके सब व्यापारोंके साथ विशेष रखा गया है। यद्यपि पृथ्वीके सब मनुष्य-जातियोंमें उनके अलग अलग आचार पाये जाते हैं, जिनको एटीकेट कहते हैं, परन्तु आर्यजातिके आचार सब धर्ममूलक हैं। एटीकेटकी तरह केवल व्यवहार धर्ममूलक नहीं है। इसी सिद्धान्तके अनुसार सनातन-धर्मियोंमें जो व्यायाम की शिक्षा दी जाती है, वह भी धर्ममूलक होती है। आर्य लोग सूर्यप्रणामरूपी व्यायाम-क्रियाको सबसे उत्तम मानते हैं। सूर्यभगवान् प्रत्यक्ष देवता हैं। सूर्यभगवान् स्थूल-शक्तियोंके केन्द्र हैं। सूर्यभगवान् नैरोग्यदेनेवाले प्रधान देवता हैं,

ऐसा मानकर सूर्यभगवान्‌को लक्ष्य करके शरीरकी खास खास क्रियाओंद्वारा उनको प्रणाम करनेके कुछ नियम शास्त्रोंमें वर्णित है। कुछ मंत्र बोलते बोलते उन क्रियाओंको करना होता है। इस साधनको सूर्यप्रणाम करते हैं। सूर्यप्रणाम क्या स्त्री और क्या पुरुष, क्या बालक, क्या युवा सबके लिये समान-रूपसे हितकारी माना गया है।

व्यायामकी इतनी उपयोगिता रहनेपर भी उसमें कई दोष भी हैं। व्यायामका मस्तिष्कपर असर होता है, इससे मस्तिष्कशक्ति आप ही कुछ घट जाती है, व्यायामसे अतिरिक्त श्वास निकल जाते हैं। मनुष्यका स्वाभाविक श्वास नासिकाद्वारा बारह अंगुली बहिर्गत होता है; परन्तु व्यायामसे छत्तीस अंगुलोंसे भी अधिक श्वास बहिर्गत होता है। श्वासके साथ आयु और प्राणशक्तिका विशेष सम्बन्ध है। अतः बारह अंगुलियोंसे न्यून श्वासवायु बहिर्गत हो, इस विचारसे कुम्भककेद्वारा श्वासकी गति परिमित कर आयु और प्राण-शक्तिकी वृद्धि करते रहना ही उत्तम है। व्यायाम और कामक्रोधादि मनोवृत्तियोंका दमन न करनेपर श्वास-निर्गमय-क्रिया अधिक होकर उससे आयु तथा प्राण-शक्ति घटेगी। प्रायः देखा जाता है, कि व्यायाम करनेवाले लोगोंका स्वास्थ्य अच्छा रहनेपर भी वे अधिक नहीं जीते। इसके अतिरिक्त उनको कोई रोग होनेपर वे सर्वसाधारणकी अपेक्षा अधिक दुःख पाते हैं और वृद्धावस्थाके कारण व्यायाम छूट जानेपर

उन्हें गठिया जैसा शरीरको निकम्मा बनानेवाला रोग ग्रास कर लेता है। व्यायामके ये ही सब दोष देखकर योगशास्त्रमें इसकी प्रशंसा नहीं की गयी है। योगशास्त्रमें व्यायामके बदले प्राणायाम, मुद्रा, आसन आदिका उपदेश दिया है। प्राणायामआदिके द्वारा कुम्भक साधनेसे श्वास-प्रवाह कम होगा। वायुका नियमन करनेसे जब वह स्थिर हो जायगा, तब उसके साथही साथ वीर्य और मन भी स्थिर होगा। स्नायुमण्डलका :सतेज होना, शरीर और मनका मलनाश रक्त-शुद्धि एवं प्राण-शक्ति तथा मस्तिष्क-शक्तिकी वृद्धि, ये सब योग-क्रियाओंसे लाभ होते हैं। योगाभ्याससे स्मृतिशक्ति तो इतनी बढ़ती है, कि थोड़े ही समयमें बहुतसे विषयोंको मनुष्य कण्ठाग्र और हृदयस्थ कर लेता है। श्वासोंका क्षय यदि रोका जाय तो आयु बढ़कर शरीरका बल भी वृद्धिङ्गत होता है और धैर्य, उत्साह, कष्ट-सहिष्णुता, द्वन्द्वसहिष्णुता आदि समस्त सद्वृत्तियाँ परितुष्ट होती हैं। मन स्थिर होकर ब्रह्मचर्यकी रक्षाके कारण, वह भगवच्चरणारविन्दोंमें लग जाता है। कामक्रोधादि क्षुद्रवृत्तियाँ योगाभ्यासीके मनका आश्रय करने नहीं पातीं। मनकी शक्ति बढ़नेसे त्याग-शक्ति, दृढ़प्रतिज्ञता, देवव्रत और उदार प्राणताकी वृद्धि होकर बाल्यावस्थासे ही जीवनकी गति मन्दाकिनीकी विमलधाराकी तरह उन्नति पथपर अप्रतिहत वेगसे प्रधावित होगी। इन्हीं सब गुणोंके कारण योगशास्त्रमें व्यायामके बदले प्राणायामादिकी विधि

बतायी गयी है। इससे व्यायामकी सब उपकारिता प्राप्त होकर अपकारितासे साधक बचा रहता है। परन्तु योगविद्या गुरुगम्य है। पुस्तकोंसे वह सीखी नहीं जा सकती, किस शरीर और प्रकृतिके साधकको कौनसा प्राणायाम, मुद्रा और आसन करना योग्य है, अन्तर्दृष्टिसम्पन्न प्रकृति-परीक्षा-निपुण विज्ञ योगी ही बता सकता है, उसीसे वह समझ लेना चाहिये। पुस्तकपर विश्वास रखकर या अविज्ञ प्रकृति-परिचय-शून्य व्यक्तिसे योग-शिक्षा ग्रहण करनेसे प्रायः शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। ये सावधानीसे करनेयोग्य क्रियाएँ हैं, मनमानी करनेयोग्य नहीं; अतः सर्वसाधारणको प्रयोजनके अनुसार प्रतिदिन सुलभ व्यायाम करते रहना चाहिये। यदि अच्छा गुरु मिले तो व्यायामके साथही साथ साधक योग क्रियाएँ भी करे। साधारण व्यायामसे कोई अनिष्ट होनेका भय नहीं है। अतः सूर्य-प्रणामरूपी सहज व्यायाम स्त्री-पुरुष-मात्र ही अति सुगमतासे सीख कर लाभ उठा सकते हैं, और इस आध्यात्मिक व्यायामसे किसी भी प्रकारकी हानि नहीं होती।

प्रकृति माताके साथ मिलन

क्या हमने कभी वनके पशु या पक्षियोंको रोगग्रस्त अवस्थामें देखा है? वनके पक्षी वर्षाकालमें पानीसे बचनेके लिये न कभी सिरपर छाता लगाते और न शीतकालमें शीत निवारणार्थ ऊनी कपड़े पहिनते या शाल दुशाले ही ओढ़ते हैं;

फिर उन्हें रोग क्यों नहीं होते ? वनके हरिण, व्याघ्र, सिंह आदि पशु वर्षा, शिशिर और ग्रीष्म ऋतुमें निरन्तर अनावृत रहते हैं; परन्तु कभी रुग्ण नहीं होते; इसका कारण क्या है ? माताकी सन्तान माताकी ही गोदमें रहनेसे, माताकी प्रेमभरी करुणादृष्टि उसपर सदा बनी रहनेसे, मातृशक्तिकी अमृतधारामें अवगाहन कर परितुष्ट होना सीख लेनेसे, उसे संसारमें कोई कष्ट सहन करना नहीं पड़ता। चिर जीवन उस आनन्दमयीमें अर्पण करनेसे वह आनन्दमें ही कट जाता है। जिसने हमें जन्म दिया, वह तो हमारी माता है ही, किन्तु जो सबकी जननी है, वही सर्वत्र विराजमान रहती है। उसका हास्य पुष्पोंके हास्यमें विकसित होता है, उसकी प्रेमधारा गंगाकी धारामें प्रवाहित होती है, उसकी करुणा चन्द्रकलामें प्रकाशित होती है। वही सर्वव्यापिनी माता महाप्रकृति है। उसीकी गोदमें हम और हमारे माता-पिताआदि सभी प्रतिपालित हुये हैं। वनके पशु-पक्षी भी उसी महाप्रकृतिके अङ्कस्थ हैं। हमारी तरहसे महाप्रकृतिकी सन्तान अवश्य हैं, परन्तु उन्होंने अस्वाभाविक आचरण कर अबतक माताकी गोद छोड़ी नहीं है। वे प्रकृतिमातापर निर्भर रहना जानते हैं। महाप्रकृति छः ऋतुओंमें छः भावोंकी जो अपूर्व माधुरीका विकास करती है, उसको अनावृत शरीर होकर भरपूर ग्रहण करना वे सीख चुके हैं। वे अपनी देहके साथ ऋतुशक्तिको पूर्णतया मिला लेते हैं, सब ऋतुओंके वेगको सह लेते हैं। इसीसे वे स्वभावतः

द्वन्द्व-सहिष्णु और शीत, ग्रीष्म, वर्षामें एकरूप होते हैं और उन्हें कभी रोगग्रस्त होना नहीं पड़ता। बचपनसे ही सब ऋतुओंके वेगको सहन करनेका अभ्यास करना, संसारमें नीरोग बने रहनेका प्रधान उपाय है। जो सदा सरदी या जलसे बचे रहनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें थोड़ी सरदी लगने या वर्षाकालमें कुछ भी ऋतु-विपर्यय होनेसे नाना प्रकारके रोग हो जाते हैं; किन्तु जिन्हें बचपनसे ऋतु-तारतम्य और परिवर्तनमें उसके वेगको सहन करनेका अभ्यास है, उन्हें ऋतुओंके हेरफेरके समय कोई रोग नहीं होता। हम देखते हैं, कि हमारे मुखकी त्वचा शरीरके अन्यान्य अंगोंकी त्वचाकी अपेक्षा स्वभावतः अधिक उज्ज्वल और लाल रहती है, इसका कारण यह है कि, हम अपने अन्यान्य अंग-प्रत्यंगोंकी तरह मुखको निरन्तर ढाँके हुए नहीं रखते। मुखको हम सदा खुला रखते हैं, इससे उसकी त्वचा अन्य अगोंकी अपेक्षा कोमल रहनेपर भी उसमें ऋतुओंके वेगको सहन करनेकी शक्ति अधिक रहती है। यदि इसी तरह बाल्यकालसे सब अंगोंको द्वन्द्व-सहिष्णु बनाया जाय तो शरीर स्वस्थ रह सकता है। माताके साथ विरोध कर सन्तान कभी सुखी नहीं रहती। माताकी छातीसे चिपक कर प्राण-प्रदायिनी मातृस्तन्यधाराका पान करनेसे ही सन्तान चिर अमरता प्राप्त कर सकती है। यही कारण है, कि दूरदर्शी महर्षिगणने प्राचीन कालमें ब्रह्मचर्याश्रमकी सृष्टि की और उस आश्रममें बालपनसे ही बालकोंको नानाप्रकारसे महाप्रकृतिमें मिला देनेकी व्यवस्था की है। शारीरिक नाना-

विध तपःसाधन करना, शीत-ग्रीष्मादिके वेगको सहन करनेके-लिये उन्हें अनावृत अंग अनावृत पद और अनावृत मस्तक रखना, अग्निमें नित्य होम, सूर्योपस्थान, पुष्प-चयन इत्यादि कार्य उनपर सौंपना, ये सब उपाय महाप्रकृतिके साथ मिलन करनेके ही हैं। पृथ्वीमें जो विद्युत्-शक्ति है, उसके साथ पार्थिव जीव-शरीरका नैसर्गिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शिशु-कालसे ही खाली पैर रहनेका अभ्यास कर अटूट रक्खा जाय तो पार्थिव विद्युत्-परिपुष्ट मनुष्य अवश्य ही सवलकाय और नीरोग रहेगा। इसी तरह छाताके द्वारा सूर्यतेजका सम्बन्ध न रोककर यदि शरीर और मस्तकपर धूप सहन करनेका अभ्यास किया जाय, तो सूर्यसे आनेवाली प्राणशक्ति प्राप्त होगी; जिससे शरीर स्वस्थ और वलिष्ठ रहेगा। मनु-संहितामें इसीलिये ब्रह्मचारीको 'उपानच्छत्रधारणं' जूता और छाता धारण करना निषिद्ध बताया है। काल-प्रभावसे ये सब स्वास्थ्य सम्बन्धीय नैसर्गिक विधियाँ लुप्तप्राय हो गयी हैं। इसीसे आजकलके बालक प्रायः रुग्ण रहकर समस्त जीवन दुःखमें काटते हैं। उनका यौवन, वार्धक्य सभी रोगमय रहता है और उनकी सन्तान भी रुग्ण एवं दुर्बल होती है। अतः वचपनसे महाप्रकृतिके साथ मिलना सीखना चाहिये, जिससे माताका प्रेम और माताका प्राण प्राप्त होकर जीवन आनन्दमें बीते। शिक्षाके अभावसे और सामाजिक सम्मानके अनुरोधसे आजकल माता-पिता अनेक बार उक्त तथ्यका अनुसरण नहीं करने पाते।

धनी माता-पिताके बच्चे प्रकृति माताके गोदमें रहते हुए 'बड़े बापके बड़े बेटे' बन जाते हैं। उनके हाथ-पैर होते हुए भी माता-पिता उन्हें पंगु बना देते हैं। उनमें चलनेकी शक्ति नहीं, गाड़ी चाहिये ; थोड़ा बोझ उठानेकी शक्ति नहीं, मजदूर चाहिये; अपना काम करनेकी शक्ति नहीं. नौकर चाहिये; सारांश, जो सबके लिये सहल, वह उसकेलिये कष्टकर और जो स्वाभाविक, वह उन्हें लज्जाजनक बोध होता है। वह सरल शिशु, महाप्रकृतिके आदरका धन, धूलि-धूसरित होकर माताकी छातीपर लोटपोट करता, धूप, पानी और हवाका मनमाना सेवन करता और निर्लज्ज नग्न होकर ताण्डवनृत्य करता हुआ अपने शरीर, मन और प्राणको परिपुष्ट बनाता रहता है; परन्तु धनी माता-पिता धनके मदसे कृत्रिम लोक-लज्जाके अनुसार संकोचके वशीभूत होकर महाप्रकृतिके उस सरल शिशुको बाल्यजीवनके सरल सुखसे वञ्चित रखकर चिरदुःखी और चिररोगी बना देते हैं। बच्चेको जूता, कुरता, मोजा, पाजामाआदि पहिरा देनेसे उसे इस बनठनकेलिये अकारण सावधानता रखनी पड़ती है, उसका वह फुल्ल हृदय माताके साथ मिल नहीं सकता। उसका जीवन बचपनसे ही कृत्रिमतामय हो जाता है। यह कपड़ा फटा, धूलसे यह कुरता मैला हो गया, पेड़पर चढ़ने, कबड्डी खेलनेसे धोती फट गयी, कपड़ेमें कहाँसे स्याहीका दाग लगा आया, इत्यादि तिरस्कार-युक्त ताड़नासे उसके बाल्यकालोचित सब खेल ही नष्ट कर दिये जाते हैं। थोड़ा जाड़ा पड़ते ही आपादमस्तक गरम कपड़ोंसे उसे

आवृत कर उसके जीवनको 'किम्भूत किमाकार' बना दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि, अपने रहन-सहन तथा जीवनके व्यवहारको हम जितना स्वाभाविक और प्रकृति-माताके अनुकूल बनावेंगे, उतना ही स्वस्थ्य, नीरोग और दीर्घायु हो सकेंगे और ऐसा करनेसे आनन्दमय शिशु, आनन्दमयी माताके साथ अकृत्रिम भावसे मिल-कर अपने शैशवकालको सुखमय, यौवनकालको जीवन-संग्राममें विजयी और वार्धक्यको मुनिवृत्तिके योग्य बनानेमें स्वाभाविक-रूपसे समर्थ होंगे और महाप्रकृतिके मधुर मिलनसे मधुमय आध्यात्मिक जीवनलाभ कर चिरधन्य हो सकेंगे।

दीर्घायु और अल्पायु होनेके रहस्य

महाभारत तथा अन्यान्य स्मृतिशास्त्रोंमें आयुवृद्धि और आयु-क्षयके अनेक कारणोंका वर्णन किया है, उनमेंसे कुछ कारण इस प्रकार हैं :—

"आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम।
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्॥"
"अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्ज्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति॥"

आचार-पालनसे आयु और श्री प्राप्त होती है। दुराचारी

व्यक्ति बड़ी आयुको नहीं पा सकता। वेदाभ्यास न करनेसे, आचार-त्यागसे, आलस्यसे और अन्नदोषसे मनुष्योंको मृत्यु मार डालती है। महाभारत (अनुशासनपर्व, अध्याय १०४) में भी लिखा है, कि नास्तिक, कर्मविरत, गुरु-शास्त्राज्ञालङ्घन-कारी, अधार्मिक और दुराचारी मनुष्य अल्पायु होता है। सब लक्षणोंसे रहित होनेपर भी जो सदाचारी, श्रद्धावान् और असूयाशून्य हैं, वे तथा जो सत्यवादी, क्रोधरहित और प्राणिमात्रकी हिंसा न करनेवाले हैं, वे सौ वर्षोंतक जीते हैं। सन्तरास, घसकटे, राह चलते हुये खानेवाले और उच्छिष्ट-भोजी अधिक दिनोंतक नहीं जीते। जो प्रातः सायं नियमित रूपसे सन्ध्या-वन्दन करते हैं, वे यथेष्ट आयु प्राप्त करते हैं, महर्षिगण दीर्घ-सन्ध्यानुष्ठानके बलसे ही दीर्घायु लाभ करते थे। उदयास्तके समय सूर्यको देखना और दूसरोंके पहिरे हुए वस्त्र तथा जूते पहनना निषिद्ध है। सर्वदा—विशेषतया अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी, इन तिथियोंमें ब्रह्मचारी रहना उचित है, एक पैरसे दूसरे पैरको मलना, मांस भोजन, आक्रोश, पिशुन-वृत्ति और वितण्डा करना सर्वथा वर्जित है। जिससे दूसरोंका मन दुखे ऐसा वाक्य बोलना, हीनाङ्ग, विकलांग, अधिकांग, विद्याहीन, रूपहीन, धनहीन लोगोंका उपहास करना, नास्तिकता, वेदनिन्दा, देवनिन्दा, द्वेष, दम्भ, कापटय, अभिमान, क्रूरता आदि दुर्गुणोंको छोड़ देना चाहिये। मल-मूत्र-त्याग करनेके पश्चात्, घूम फिर आनेपर और भोजन

तथा स्वास्थ्यके पहिले हाथ, पैर, मुखआदि धो डालना चाहिये। भोजनादि अपनेलिये न बनाकर देवताकेलिये बनावे, सूर्योदय हो जानेपर बिछौनेपर पड़ा न रहे, प्रातःकालमें उठकर माता-पिताआदि गुरुजनको श्रद्धा-भक्तिसे प्रणाम करे, दक्षिण और पूर्वकी ओर शिर करके सोवे और पूर्व या उत्तराभिमुख हो उपासना करें, मलिन दर्पणमें मुख न देखे, नग्न होकर या रात्रिमें स्नान न करे, स्नानके पश्चात् अभ्यंग (तैलमर्दन) आदि न करे, गीला धोती न पहिरे, खेतमें, ग्रामके निकट, भस्ममें, गोचर भूमिमें अथवा जलमें मल-मूत्र त्याग न करे, पूर्वाभिमुख हो भोजन करे और भोजनके समय खाद्यवस्तुओंकी निन्दा न करे, सूखे पैर भोजन और भींगे पैर शयन न करे, गुरुजनोंको देखते ही उठकर उन्हें प्रणाम करे, एक वस्त्रसे भोजन न करे, नग्न होकर न सोवे, जूठे हाथों या दोनों हाथोंसे शिर न खुजलावे, दिनमें उत्तर मुख और रात्रिमें दक्षिण मुख होकर मलमूत्र त्याग न करे, गुरुनिन्दा और गुरुद्रोह करना तथा गुरुनिन्दा सुनना छोड़ दे, श्राद्धमें भोजन न करे, अतिथि और सुहृदोंको खिलाकर तब स्वयं खायें, सन्ध्या कालमें कुछ भी न खावें और न सोवे या पढ़े, महात्माओंके चरित्रोंका श्रवण, पुराणादि शास्त्रपठन और सर्वतोभावसे सदाचार पालन करता रहे। इन्हीं सब आचरणोंकेद्वारा मनुष्य दीर्घायु प्राप्त कर सकता है; अन्यथा वह आयुह्रासके कारण अकालमें ही कालका कवल बन जायगा।

———

उपसंहार

सदाचार-सम्वन्धी जो वातें अवतक कही गयी हैं, उनका मर्म ग्रहण करनेसे सदाचारोंकी सर्वांगीण उपयोगिताके विषयमें निम्नलिखित उपदेश मिलता है।

'धर्मोऽस्य भूलान्यसवः प्रकाण्डो, वित्तानि शाखाच्छदनानिकामाः।
यशांसि पुष्पाणि फलञ्च पुण्यं, असौ सदाचारतरुर्महीयान् ॥'

महान् सदाचाररूपी तरुका मूल धर्म, काण्ड (पेड़ी) आयु, शाखा धन, पत्र कामना, पुष्प यश और फल पुण्य है। धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार ही जब सदाचार हैं, तब सदाचारोंका मूल धर्म है, इसमें सन्देह ही क्या है ? जीवमात्रकी प्रवृत्ति स्वाभाविक-रूपसे अधर्म और अनर्गलताकी ओर होती है। सभी मनमाना आहार-विहार आदि करना चाहते हैं। इस प्रकारके स्वाभाविक निरंकुश प्रवृत्ति यदि बढ़ती गयी तो, मनुष्योंमें देवभाव विकसित नहीं हो सकेगा। वे पशुभावमें दास होकर मनुष्य-जन्मको नष्ट कर देंगे। सदाचारके अनुशासनसे मनुष्यकी अनर्गलता वृत्ति नियमित होती है और वे यथेच्छ आहार-विहार करनेमें प्रवृत्त नहीं होते। नियमितरूपसे सब कार्य धर्मानुकूल करते रहनेसे आप ही आप संयमका अभ्यास होता है और मनुष्यमें देवभाव उत्पन्न होकर उसका जीवन सफल हो जाता है। वह भगवान्की ओर स्वयं बढ़ता चला जाता है, उसका जीवन शतदल कमलकी

तरह विकसित होकर भगवच्चरणारविन्दोंमें समर्पित होता है और उसका धर्ममय यश:सौरभ दिगन्तको आमोदित करता है। इसीसे धर्मको सदाचारोंका मूल कहा गया है।

सदाचाररूपी वृक्षका काण्ड (पेड़ी) आयु है। अर्थात् सदाचारोंके पालनसे आयु-वृद्धि होती है। आयुको वढ़ानेवाले जितने उपाय हैं, उनमें संयम मुख्य है। सव इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंका सयम करनेसे आयु वढ़ती है। सदाचार, जीवन-यात्राकी सब प्रकारकी अनर्गलताओंका निषेध कर तपस्या और संयमका उपदेश करता हुआ मनुष्यकी आयु-वृद्धिमें सहायता करता है। इसीसे सदाचारी स्त्री-पुरुष दीर्घायु होते हैं।

सदाचार-तरुका मूल धर्म है, प्राण काण्ड है, शाखा धन है, पत्र कामनाएँ हैं, पुष्प यश है और फल पुण्य है, यह सदाचारतरु महान् है। साधारणतया धनलाभको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा :—धनका अर्जन, संरक्षण और सम्वर्द्धन। शरीर सुदृढ़ कुशल और कार्यक्षम, वुद्धि विषयोंके वोधमें पटु और अमोघ, चित्त स्थिर और उत्साह-सम्पन्न एवं स्वभाव विश्वासयोग्य तथा लोकप्रीतिकर होनेसे धनोपार्जन करना कठिन नहीं होता है। सदाचार पालनसे शरीर, बुद्धि, चित्त और स्वभावमें उक्त गुण उत्पन्न होते हैं और धनोपर्जन सुलभ हो जाता है। भोगेच्छाके संयमसे, विलासिताके दमनसे और वाह्याडम्वरको कम करनेसे धनका संरक्षण हो सकता है। सदाचार-पालक धन संरक्षणके भी

अनुकूल है। इससे भली-भाँति धन-संरक्षण होगा। मितव्ययिता, परिणामदर्शिता, सामाजिक सुव्यवस्था आदिकेद्वारा धनका संवर्द्धन होता है। सदाचार पालनसे ये गुण आ सकते हैं, अतः धन संवर्द्धनकेलिये सदाचार पालन आवश्यक ही है। सदाचार-तरुके पत्र कामनाएँ हैं। कामनाओंका साधारण स्वरूप यह है, कि अग्निमें घृत छोड़नेसे जैसी वह भभक उठती है, भोगोंके द्वारा वैसी ही कामनाएँ भी बलवती होती जाती हैं। इस प्रकार अनर्गल भावसे कामनाओंकी वृद्धिके द्वारा संसारमें जीव बड़ा दुःख पाता है। कामनाओंके संयमसे ही मनुष्य कामना-जनित यथार्थ सुखोंका अनुभव कर सकता है। सदाचार-पालनसे कामनाओंका संयम होकर उनका निरंकुश भाव घटता है, इसीसे शास्त्रमें कामनाओंको सदाचार-तरुका पत्र कहा है।

सदाचार-वृक्षका पुष्प यश हैं; अर्थात् सदाचार-परायण व्यक्ति संसारमें यशस्वी होता है। थोड़ा विचार करनेपर इसकी यथार्थता ज्ञात हो सकेगी। संसारमें नम्रता, शीलता, पवित्रता, सच्चरित्रता, संयम आदि गुणोंसे ही यश प्राप्त होता है। जिनमें ये सब गुण हों, वे सहज ही सर्वसाधारणका चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। सदाचारके द्वारा मनुष्यमें उक्त गुणावली स्वयं उदित होती है। अतः सदाचार-पालनसे प्रभूत यशोलाभ होना स्वाभाविक है। जिन आचारोंके अनुसार चलना सबको अभीष्ट है, उनका आचरण करनेवाले प्रशंसाके पात्र क्यों न होंगे? विद्यालयोंमें जो बालक अच्छा पढ़ते लिखते

हैं, वे पारितोषिक पाते हैं। सदाचार-पालनसे जगत्‌में यशोलाभ-रूपी पारितोषिक मिलता है और यशके द्वारा ही जगत्‌में मनुष्य अमर हो सकता है। 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' शास्त्रके इस सिद्धान्तानुसार जो कीर्तिमान् हैं, वे ही जीते हैं। यही सदाचारतरुका सुगन्धित पुष्प है।

सदाचाररूपी वृक्षका फल पुण्य है। सदाचार-परायण मनुष्यको पुण्य होता है। पुण्यसे पवित्रता, निर्मलता, निष्पापता, चित्तशुद्धि, रजस्तमोवर्जित विशुद्ध सात्त्विकता, असुरभावशून्य देवभावका अधिष्ठान, पशुभावरहित आध्यात्मिक उन्नति आदिके लाभ होते हैं। शरीरकी जड़ता, बुद्धिकी अपटुता, मनकी चञ्चलता और षड्‌रिपुओंकी प्रबलतासे उल्लिखित सद्वृत्तियोंका नाश होता है। उन्नतिमें बाधा करनेवाले दुर्गुणोंको सदाचार दूर करता है। सदाचारसे पुण्य होता है, इसका यही कारण है। इस प्रकार आर्यशास्त्रोंमें सदाचार-तरुका सुन्दर वर्णन किया है।

जातीय जीवनका तो सदाचार मेरुदण्ड ही है। सदाचार-पालन किये बिना कोई जाति अपने जातीय जीवनको अक्षुण्ण और क्रमोन्नत नहीं रख सकती, जीवकी बहिःप्रकृतिके साथ अन्तःप्रकृतिका क्या सम्बन्ध है, इसका अनुसन्धान करनेसे देख पड़ता है कि, बहिःप्रकृति अन्तःप्रकृतिका विकाशमात्र है। जीवोंकी अन्तःप्रकृति जिन भावोंके साथ सम्मिलित होगी, उन्हीं भावोंके बहिर्लक्षण बहिःप्रकृतिपर प्रतिबिम्बित

होंगे। इसी वैज्ञानिक नियमानुसार सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता मनुष्यके वहिर्लक्षणको देखकर उसकी अन्तःप्रकृति और प्रवृत्तिका अनुमान करते हैं। अन्तःप्रकृति और बहिःप्रकृतिका ऐसा मिश्र सम्बन्ध है कि, मनुष्योंकी बहिश्चेष्टाएं उनके अन्तरङ्गोंको प्रकाशित किये बिना नहीं रहतीं। प्रत्येक मनुष्यकी आहार, विहार, खाना, पीना, बैठना, उठना श्रवण, मनन, आचार, विचारआदि चेष्टाओंको देखकर उसके जातिगत भावोंका पता लग जाता है। अफ्रिका, मध्यएशियाआदि देशोंकी तमोगुणी जातियाँ, यूरोप, अमेरिका आदि देशोंकी रजोगुणी जातियाँ और भारतकी सत्त्वगुणी आर्यजाति, इन तीनोंके आचार-विचारोंमें भूमि-आकाशकासा अन्तर है। सब जातियोंकी भाषा, वेष-भूषा, रहन-सहनआदि विभिन्न हैं और उनसे उनकी मनोभावका परिचय हो जाता है। प्रत्येक जातिका अपनी जाति-धर्मके साथ दृढ़ सम्बन्ध होनेसे आर्य सदाचारी सज्जन पश्चिमी आचारोंको लड़कपनके खेल समझते हैं और पश्चिमी लोग भारतीयोंकी रीति-नीति देख उपहास करते हैं। कुछ भी हो, अपने जातिगत भावोंका रक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, क्योंकि जिस प्रकार अन्तःप्रकृतिका परिणाम बहिःप्रकृतिपर होता है उसी प्रकार बाह्य आचारोंसे अन्तःप्रकृतिका गठन होता हे। यदि हम अपने आचारोंको छोड़कर दूसरोंके आचारोंको ग्रहण कर लेंगे, तो फिर संसारसे हमारा अस्तित्व ही उठ जायगा। या तो, हम जिस जातिके

लोगोंके आचारोंको ग्रहण करेंगे, उसीमें मिल जायँगे, या एक नयी जाति निर्माण कर बैठेंगे। प्रायः सर्वसाधारण अदूरदर्शी ही होते हैं और कालमाहात्म्यसे किसी समय किसी जातिके चमक जानेपर उसीका अनुकरण करने लगते हैं; परन्तु ऐसा अन्ध अनुकरण ही जातीय जीवनको नष्ट कर देता है। मनुष्यकी प्रवृत्ति भी नवीनताकी ओर अधिक आकृष्ट होती है। अपनी उत्तम वस्तु भी, अतिपरिचित होनेके कारण दूसरोंकी नवीन वस्तुके आगे फीकी जँचने लगती है। ऐसी अवस्थामें विचारवान् मनुष्योंको सोचना चाहिये कि, जो सनातन है, वही अन्तःकालतक रहेगा। नयी-नयी चमकीली वस्तुएँ नित्य उत्पन्न होकर विलीन होती हैं, उनपर प्रेम करनेसे लाभ ही क्या है। परन्तु दुःखका विषय है कि, पराधीन जातिके साधारण लोग इस बातको नहीं सोचते और प्रकृति नियमानुसार अन्य जातिके वशीभूत हो जाते हैं।

जब कोई जाति किसी दूसरे जातिको बलपूर्वक अपने अधीन कर लेती है, तब पराजित जाति उस विजयी जातिकी रीति-नीति आदिका अनुकरण करने लगती है। संसारमें दो शक्तियाँ होती हैं, एक लघुशक्ति और दूसरी गुरुशक्ति। गुरुशक्तिके द्वारा लघुशक्ति अधिकृत होती है। यही कारण है कि, सत्त्व-गुणसम्पन्न गुरु, शिष्यको अपने अधीन कर लेते हैं; धर्माचार्य-गण अपने अनुयायियोंके द्वारा ईश्वरावतार कहाते हैं और जेतृगण विजित जातिके आचार-विचारोंपर अपना प्रभाव

जमा लेते हैं। इतिहासोंके देखनेसे पता चलता है कि, विजयी जातिकी गुरुशक्तिने विजित जातिकी लघुशक्तिको सदा दबाया है और अन्तमें वह लघुशक्तिविशिष्ट विजित जाति, गुरुशक्तिविशिष्ट जातिमें मिलकर अपनी जातीयताको खो बैठी है। यूनान-जाति रोमन-जातिमें मिलकर नष्ट हो गयी और वही रोमन-जाति काल-चक्रके प्रभावसे दूसरी जातिकेद्वारा पराजित होकर नूतन इटा-लियन जातिके रूपमें परिणत हो गयी। एक आर्यजाति ही ऐसी है, कि दो सहस्त्र वर्षोंसे विभिन्न विदेशी जातियोंद्वारा बिजित होते रहनेपर भी अबतक अपने स्वरूपको पूर्णरूपसे भूली नहीं है, संसारके लोग चाहे हमें भले ही हँसे, वे कितना ही हमें नीचा दिखावें, परन्तु आर्यजातिका ही यह एक अपूर्व महत्त्व है कि, उसने अभी अपने आपको नहीं भुलाया है। इसका कारण जातीय सदाचार पालन ही है। यदि हमें अपना जातीयत्व बनाये रखना है, तो अपने सदाचारोंके पालनमें विशेष ध्यान देना चाहिये। आशा है, श्रद्धावान् भारत सन्तान अपने सदाचारोंके पालनमें विशेष तत्पर रहेगी, जिससे उसकी जातीय उन्नतिमें इस कठिन कलिकालमें बाधा उपस्थित न हो सके।

आर्यशास्त्रने सदाचारके साथ परम्परारूपसे परमतत्त्व ब्रह्मका सम्बन्ध दिखाया गया है। इससे सहज ही प्रमाणित होता है कि, सदाचार परायण होनेसे जीव निःसन्देह ब्रह्मज्ञानके पथपर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर हो सकेगा। सदाचार

पालनके प्रभावसे मनुष्यका ज्ञानपथ आप ही परिष्कृत हो जाता है। इस विज्ञानकेलिये जो कुछ कहा गया है, उसको इस ग्रन्थके मंगलाचरणमें स्तुति रूपसे दिया गया है। उस मंगलाचरणका तात्पर्य यह है—

जातिका मूल आचार है। प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण और कर्मके भेदसे जातियोंकी सृष्टि हुई है। भिन्न-भिन्न जातियोंके विभिन्न सदाचार होते हैं। अपनी अपनी जातिके अनुसार सदाचार-पालन करनेसे जातीयताकी रक्षा हो सकेगी आर्यजातिके सदाचार शास्त्रोंके द्वारा स्थिर किये हुये होनेसे आर्यसदाचारोंका मूल शास्त्र ही हैं। शास्त्रोंका मूल वेद है। सनातनधर्मावलम्बियोंका विश्वास है, कि वेद अपौरुषेय हैं। जीवके कल्याणर्थ श्रीभगवान्‌ने वेदोंको प्रकट किया है। सनातनधर्मके जितने शास्त्र हैं, वे सब वेदानुयायी हैं। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी अभ्रान्त बुद्धिकी सहायतासे वेदमतप्रतिपादनार्थं नाना शास्त्रोंकी रचना की है। अन्ततः वेदमतानुयायी सब शास्त्रोंके मूलमें श्रीवेद भगवान् विद्यमान हैं। मलयाचलपर चन्दनकी वायुसे समस्त वृक्षोंमें चन्दनकी गन्ध उत्पन्न होनेपर भी अन्तःसारशून्य बाँस सुगन्धित नहीं होता, इसी तरह साधनविहीन जड़ अन्तःकरणमें भी ईश्वरीय निर्मल ज्योति-स्वरूप वेदोंका प्रकाश नहीं होता। असाधारण तप और योगसम्पन्न साधकोंके निर्मल हृदयोंमेंही वेदोंकी ज्योति प्रतिबिम्बित होती है। साधन न कर केवल इच्छामात्रसे

मनुष्य भगवज्ज्योतिके दर्शनका अधिकारी नहीं होता। असाधारण तप और योग-साधनसे ही साधक-चूड़ामणि महर्षियोंके अन्तः-करणमें वेदोंका आविर्भाव हुआ था। अतः वेदोंका मूल साधक है। क्रियाओंके करनेसे मनुष्य साधकपदवाच्य होता है। अतः योग-तपरूपी क्रियाएँ ही साधकोंका मूल है। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलोंकी या इनमेंसे किसी दो एककी अपेक्षा रखकर जीव क्रियाएँ करता है। अतः क्रियाओंका मूल फल है; परन्तु जीव इन फलोंकी इच्छा क्यों करता है? इसका विचार करनेपर यह सिद्धान्त निकलता है कि, जीव सुखेच्छासे प्रेरित होकर उक्त चतुर्वर्ग सिद्धिरूपी फलोंकी अपेक्षा रखता है। अतः फलका मूल सुख हुआ। वैषयिक सुख-दुःखोंसे परे जो अद्वैत ब्रह्मानन्द है, वही यथार्थ आनन्द है। जीव इसी आनन्दका पता लगाते-लगाते भ्रमवश होकर सांसारिक सुखोंमें निमग्न हो जाता है। अतः सुखोंका मूल आनन्द है। जीव अपनी ज्ञानशक्तिकेद्वारा निश्चय कर लेता है कि, मायाकल्पित वैषयिक सुख प्रकृत सुख नहीं है। क्योंकि, क्षणभंगुर पदार्थोंका सुख क्षणभंगुर ही होगा। परमात्माका आनन्द ही यथार्थ आनन्द है। इस प्रकारके विचारोंका कारण जब ज्ञान है, तब आनन्दका कारण भी ज्ञान ही समझना चाहिये। लक्ष्य अर्थात् ज्ञेय वस्तुको जाननेके-लिये जीवके अन्तःकरणमें ज्ञानका स्फुरण होता है। अतः ज्ञानका मूल ज्ञेय है, परमतत्त्व ही ज्ञेय वस्तुका अन्त है। अर्थात् परमतत्त्वका साक्षात्कार होनेपर कोई वस्तु जानने-योग्य नहीं

रह जाती । अतः तत्त्वानुभव ही ज्ञेयवस्तुका मूल है। तत्त्वातीत परमतत्त्व ही सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है। अतः ब्रह्म ही सब तत्त्वोंका मूल है। सब शास्त्रोंमें सब मतोंमें, सब क्रियाओंमें, सब साधनोंमें एकता अथवा सामञ्जस्यकी रक्षा करना ही सबका मूल बताया गया है। इस प्रकारका एकतायुक्त सार्वभौम ज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका मूल हैं। उस ब्रह्मरूपी परमात्मामें सारा संसार ओतप्रोत है। आचार-पालन करनेसे साधक उस परमात्माके निकटतक पहुँच जाता है। परमात्मा सबमें व्यापक है सब कुछ है, वह परमात्मा सब जगह है, ऐसे सर्वमय देव परमात्माको बार-बार नमस्कार है। इस प्रकार सदाचारमूलक जातिधर्मके साथ ब्रह्मसद्भावपदकी दृढ़ परम्परा सम्बन्ध है, यह वैज्ञानिक विचारोंके द्वारा अब स्थिर हो गया।

सदाचार ही आर्यजातिका प्राण और प्रथम धर्म है। इस प्रथम धर्मका प्रतिपालन न करनेसे कोई धार्मिक जीवनमें अग्रसर नहीं हो सकता, इस कारण अत्यन्त यत्नके साथ आचारोंकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। हमारे पवित्र देशके नवयुवक और कन्यायें सदाचारसम्पन्न होकर परमात्मासाक्षात्कारके अधिकारको प्राप्त करते हुए अपने मानव-जीवनको सफल और धन्य करें, यही उस सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीविश्वनाथके चरणोंमें हमारी विनीत-भावसे प्रार्थना है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

अखिल भारतवर्षीय हिन्दूजातिकी प्राचीनतम विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलद्वारा प्रतिष्ठित धार्मिकाध्यात्मिक संस्कृत विद्यापीठके सहयोगी सभ्य (फेलो मेम्बर) जो बनते हैं, उनको केवल यही स्वीकार करना पड़ता है, कि अपने घरके बालक-बालिकाओंको बालकपनसे ही धर्मशिक्षा देंगे। ऐसे सदस्योंको ८, १० ऐसी पुस्तिकायें दी जाती हैं, जो बालक-बालिकाओंको प्रारम्भिक धर्मशिक्षा देनेमें काम आवें। प्रत्येक हिन्दू गृहस्थको इस धार्मिक विद्यापीठका सदस्य बनना उचित है।

बालक बालिकाओंको धर्मशिक्षा दीजिये

धर्मशिक्षाके बिना उत्तम चरित्रका निर्माण सम्भव नहीं है, धर्मशिक्षाके अभावके कारण स्कूल कालेजोंमें शिक्षा पानेवाले छात्र-छात्रायें दुःशील एवं उद्दण्ड हो रही है। पिता-मातापर ही अपने बालक-बालिकाओंके चरित्र निर्माणका उत्तरदायित्व है। छात्रोंके प्रारम्भसे लेकर बी० ए०, एम० ए०, तक की धार्मिक पाठ्यपुस्तकें श्रीभारतधर्ममहामण्डलद्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं, उनसे लाभ उठाइये। आजकी सबसे कठिन समस्या छात्र छात्राओंके चरित्र निर्माणका है इस विषयमें हम आपकी सहायता करनेको प्रस्तुत हैं। विशेष जानकारीकेलिये निम्नलिखित पतेसे पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक

शास्त्र-प्रकाशन-विभाग

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

प्रधान कार्यालय

लहुरावीर, वाराणसी

धर्मसेविका विद्यापीठ उपाधिपरीक्षा

कन्याओं तथा महिलाओंमें धार्मिक शिक्षाप्रचारकेलिये श्रीआर्यमहिलाहितकारिणी महापरिषद्‌ने "धर्मसेविका विद्यापीठ" उपाधि-परीक्षाकी स्थापनाकी है। कन्याओं एवं गृह-देवियोंमें धार्मिक शिक्षाके प्रचारद्वारा ही प्राचीन पवित्र भारतीय-संस्कृति, सनातनधर्म तथा हिन्दू-सदाचारोंकी रक्षा हो सकती और अपनी भावी सन्तान ईश्वरभक्त मातृ-पितृभक्त तथा देशभक्त बन सकती है। अतः आप भी अपने यहांके शिक्षासंस्थाओंमें इसका केन्द्र स्थापित कर धर्मसेविका विद्यापीठ उपाधि परीक्षाकी धर्मदीपिका, धर्मकोविदा और धर्मशारदाआदि परीक्षाएँ अपने यहांकी महिलाओं तथा कन्याओंसे दिलाइये। विशेष जानकारीकेलिये व्यवस्थापक धर्मसेविका विद्यापीठ उपाधिपरीक्षा, आर्यमहिला कार्यालय लहुरावीर वाराणसीसे पत्रव्यवहार कीजिये।

कल्पना प्रेस, रामकटोरा रोड, वाराणसी।